संस्कृति और अभ्युदय

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय में दिये गये
तीन भाषणों का सारांश)

लेखक—श्री स्वामी कृष्णानन्द सरस्वती

योग-वेदान्त आरण्य विद्यालय, शिवानन्द नगर (हिमालय)

तथा

नैतिक अनुशासन सम्बन्धी उपदेश

लेखक—श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज
अध्यक्ष—दिव्य जीवन संघ

अनुवादक—श्री स्वामी ज्योतिर्मयानन्द सरस्वती

ल्य : १९६१ १) रु०

श्री स्वामी कृष्णानन्द जी द्वारा
योग-वेदान्त आरण्य विद्यालय
पो. ओ. शिवानन्द नगर द्वारा ऋषिकेश (हिमालय)
यू० पी०, भारत के लिये प्रकाशित।

प्रथम संस्करण (अंग्रेजी) १६६१
प्रथम संस्करण (हिन्दी) १६६१

(दिव्य जीवन संघ के प्रति श्री डा० पद्मा मुधोलकर, बम्बई, की सेवाओं के उपलक्ष्य में यह पुस्तक मुद्रित किया गया है। ईश्वर आशीर्वाद उन्हें प्राप्त हो)।

मुद्रकः—
योग-वेदान्त आरण्य विद्यालय प्रेस
पो० ओ० शिवानन्द नगर
द्वारा-ऋषिकेश (हिमालय)

प्रस्तावना

इस वर्त्तमान प्रकाशन में श्री स्वामी कृष्णानन्द जी के तीन भाषणों का सारांश दिया गया है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के माननीय वाइस चांसलर से आमन्त्रित होकर श्री स्वामी जी ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में वहां के छात्रों के लिये संस्कृति तथा ज्ञानमय जीवन के आवश्यक तत्त्वों पर ये भाषण दिए थे। ये प्रवचन ७वीं, ८ वीं तथा ९ वीं नवम्बर १९६० में दिये गये थे। भारतीय दर्शन का आधार तथा दैनिक जीवन में व्यवहार की सारी बातें इनमें सम्मिलित हैं। परम पूज्य श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज के आध्यात्मिक शिक्षा तथा नैतिक अनुशासन संबंधी प्रेरणात्मक उपदेश भी जोड़ दिये गये हैं जिनसे विद्यार्थीगण तथा अन्य सज्जन भी अवश्य ही लाभ उठायेंगे। परिशिष्ट में सम्पूर्ण जीवन विताने की कला सम्बन्धी मुख्य बातों को प्रस्तुत किया गया है।

श्री स्वामी जी की यह शुभ-कामना है कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने विद्यार्थियों में उन्नत जीवन की चेतना जगाने की आवश्यकता का जो उदाहरण दिया है उसका अनुगमन अन्य विश्वविद्यालय भी करें। तथ्यों के संग्रह मात्र को ज्ञान नहीं कहते, यदि इसमें मानव स्वभाव की मूलभूत आवश्यकताओं पर प्रकाश डालने की क्षमता नहीं तो वह निरर्थक ही है। शिक्षा तथा संस्कृति से ही सच्चा मनुष्य का निर्माण होता है तथा इसी लक्ष्य की ओर यह प्रकाशन प्रयत्नशील है।

योग-वेदान्त आरण्य विद्यालय

सूची-पत्र

—:※:※:—

संस्कृति और अभ्युदय

आन्तरिक पुनर्जनन की आवश्यकता

(श्री स्वामी शिवानन्द)

सारे राष्ट्रों के उदारचेता व्यक्तियों ने, सभी सन्तों तथा दार्शनिकों ने सदा इस सत्य की घोषणा की है कि ईश्वर सबों का पिता है। सभी मानव भाई हैं, शांति तथा सन्मति में ही कल्याण है तथा प्रेम एवं निष्कामता ही श्रेयस्कर है। अतः प्रेम तथा निष्कामता का सन्देश सारे हृदयों में पहुंचाना ही अन्य सारे सन्देशों से महत्तम कार्य है।

इस युग में जब कि परमाणुबम, जातीय घृणा; राष्ट्रीय लोभ संगठित लूट, राष्ट्रीय स्वार्थ, असहिष्णुता तथा अविश्वास का बोलबाला है हमारा कार्य केवल राष्ट्रों की सरकार तथा राज्य प्रणाली के परिवर्तन मात्र से ही नहीं बन जाता; हमें तो सार्वजनिक आध्यात्मिक शिक्षण देने तथा व्यक्ति के स्वभाव में परिवर्तन एवं शुद्धता लाने के लिये सार्वभौमिक आन्दोलन करना होगा। हर व्यक्ति का सार्वभौमिक पैमाने पर नैतिक, आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक सुधार होना चाहिये। इसकी आवश्यकता तथा इसकी उपादेयता को समझना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है। क्योंकि जाति, राष्ट्र तथा मानव समाज की मूलभूत इकाई व्यक्ति ही है।

अधिकांश मनुष्यों को अपनी पाशविक प्रवृत्ति से बचना होगा। यह असम्भव नहीं है। एक ही ईश्वर सबों में स्थित है। वह सभी व्यक्तियों का स्वरूप है। इस ईश्व-

तत्व को व्यक्त करना ही वास्तविक शिक्षा है। यदि हमको नवीन मानव जाति का निर्माण करना है यदि "सर्वभूत हितेरताः" के सिद्धांत को व्यवहार में उतारना है तो हमें शनैः शनैः समाज के स्वभाव में—विशेष कर गृह तथा शिक्षा सम्बन्धी क्षेत्र में तथा साधारणतः सामाजिक क्षेत्र में—आध्यात्मिक तथा नैतिक सुधार लाना होगा।

मैं जानता हूँ कि यह कार्य दुष्कर है परन्तु फिर भी कोई महान् कार्य जादू के समान घटित नहीं होता। सारे सृजनात्मक कार्यों के लिये कठिन परिश्रम तथा पुरुषार्थ की आवश्यकता है। परिणाम की प्राप्ति शीघ्र नहीं हो सकती अधिकतर इस तरह के कर्मों का फल भावी सन्तति को ही प्राप्त होता है। परन्तु इस परिवर्त्तन तथा आन्दोलन के द्वारा वृद्ध जन भी अपने में परिणति ले आयेंगे। जिस प्रकार किसान वर्त्तमान फसल में परिवर्त्तन तथा सुधार नहीं लाता। हां, उसमें सड़न नहीं आने देता तथा उसको नष्ट नहीं होने देता परन्तु वह उस क्षेत्र का उपचार आरंभ कर देता है जिसमें उसकी भावी फसल होने वाली होती है। उसी प्रकार वे लोग जो भावी शांति तथा कल्याण के लिये कार्य कर रहे हैं उन्हें सर्व प्रथम आदर्श परिस्थिति का निर्माण करना होगा जिसके द्वारा भावी सन्तति अपने आदर्शों को प्राप्त कर सकने में सफल तथा समर्थ बन सके। यदि इस जगत में शांति लानी है तो दम्भ में कमी संकीर्ण बुद्धि में कमी, भय-ग्रन्थि में कमी, लकीर का फकीर बनने में कमी की आवश्यकता है। हमें "स्वयं जीना तथा दूसरों को जीने देना" के आदर्श तथा दूसरों के

अधिकार तथा आवश्यकता को सर्वप्रथम समझ लेना होगा।

मनुष्य को असीम प्रेम का अर्जन करना चाहिये। अपनी जाति, अपने राष्ट्र, अपने धर्म के प्रति प्रेम के द्वारा विगठन, संघर्ष तथा बड़प्पन की भावना को आश्रय नहीं मिलना चाहिये। अपने देश के लिये प्रेम तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता आपको जितना प्रिय है उतना दूसरे देशवासियों को भी है। वास्तविक धर्म सबों में एकता को लाता है। ज्ञानी जन सब मनुष्यों में समता तथा शुभ देखने की शिक्षा देते हैं। हम सबको प्रयत्न करना चाहिये कि हम ईश्वर के दर्शन करें। क्योंकि तभी हम सबों में शुभ का दर्शन कर सकते हैं। मनुष्य को सत्य, शुद्धता, प्रेम सन्तोष तथा निष्कामता की शिक्षा मिलनी चाहिये। ईश्वर के प्रति मनुष्य-हृदय में जीवन्त श्रद्धा होनी चाहिये। यही सच्चे धर्म का सारांश है। इसी श्रद्धा में हमारी विजय की आशा निहित है। इसको प्राप्त करने से ही हमारा कार्य करीब करीब पूरा हो जाता है। जिस जाति में ईश्वरीय ज्योति प्रदीप्त हो गई है वह स्वभावतः ही अपनी सारी शक्ति लगाकर उन आदर्शों को प्राप्त कर लेगी।

यह जगत संग्राम तथा विनाश के भय से मुक्त बने धार्मिक असहिष्णुता रूपी पागलपन, जातीय संकीर्णता तथा घृणा, गुलामी के द्वारा सभ्यता के प्रसार की भ्रांति, परोपकार तथा दान शीलता के मद तथा आसुरिकता, पाशविकता और भौतिक वादिता से यह जगत मुक्त बने।

आज के विद्यार्थियों को सच्ची शिक्षा की आवश्यकता है। ये विद्यार्थी ही हमारे भावी नागरिक हैं। वे देश व

आशा तथा गरिमा हैं। वे राष्ट्र के घायल हृदय का उद्धार करेंगे। वे स्वयं के ऊपर अपना शासन रखेंगे तथा शांति, सम्पत्ति, सुख तथा विश्व बन्धुत्व के बीज बोयेंगे। मनुष्य के अन्तस्तल में जो ईश्वरीय पूर्णता है उसको खोज निकालने की विधि का नाम ही शिक्षा है। इसका अर्थ है आत्मा को व्यापक बनाना न कि उसको अहंकार तथा स्वार्थ के बन्धनों के द्वारा और भी जकड़ देना। मानव जीवन के विविध पहलुओं का विकास ही शिक्षा है। जीवन के हर क्षेत्र में पूर्णता लाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। मानव जाति को प्रबुद्ध बनाना, मनुष्य की निम्न प्रकृति को नष्ट करना, सामाजिक व्यवस्था को सुधारना, विद्यार्थियों को सुशिक्षित कर उनके वाह्य तथा अन्तर्जगत में उन्नति के द्वारा मानव जाति का कल्याण करना ही शिक्षा है। सच्ची शिक्षा की जांच यही है कि इसके द्वारा ज्ञान, प्रेम तथा सेवा—इन तीनों का सर्वांगीन विकास हो।

वे विद्यार्थी जिन्होंने शिक्षा के द्वारा अपने जीवन को अनुशासित बनाया है, जिन्होंने नम्रता का अर्जन किया है, जिनको चारित्रिक बल तथा सदाचरण प्राप्त है जिन्होंने अपना जीवन नित्य आध्यात्मिक मूल्यों के अनुसन्धान के लिये अर्पित कर दिया है—वे ही विश्व बंधुत्व सार्वभौमिक शांति तथा समता की स्थापना कर सकते हैं।

शिक्षा के केन्द्रों में केवल व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षण ही नहीं मिलने चाहिये वरन् सम्पूर्ण व्यक्तित्व के सर्वांगीन विकास के लिये पूरे साधन मिलने चाहिये। स्कूल, कालेज तथा विश्वविद्यालयों को चाहिये कि वे

विद्यार्थियों को नेता, तथा राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक, विद्वान तथा सैनिक और जीवन के हर क्षेत्र में कुशल बनाने के अतिरिक्त उन्हें संत, ज्ञानी, दार्शनिक तथा महात्मा के रूप में भी परिणत करें। शिक्षा संस्थाओं की शिक्षण पद्धति में पूर्ण परिणति लाने की आवश्यकता है। विद्यार्थियों के लिये केवल उन्हीं पुस्तकों को सिलेबस में रखना चाहिये जिनके द्वारा कि वे शिष्टता, त्याग भावना, आत्म-संयम, हृदय की शुद्धता तथा पूर्णता आदि को सीख सकें। मनुष्य को पूर्ण बनाना तथा क्रमिक उद्बोधक शिक्षा का अर्थ केवल बुद्धि को प्रशिक्षित बनाना ही नहीं वरन् समस्त व्यक्ति तथा व्यक्तित्व को को उद्बुद्ध बनाना है। विद्यार्थी समाज में नैतिक आचरण, सत्य तथा शुद्धता, शिक्षा तथा ज्ञान संस्कृति तथा धर्म, सेवा तथा त्याग भावना, चरित्र तथा संकल्प बल का विकास हो।

——::●::——

संस्कृति और अभ्युदय

जीवन का लक्ष्य

सत्य क्या है ?

हम कहते हैं कि हम जगत में रहते हैं क्योंकि हम दृश्य का अनुभव करते हैं जो हमारे इन्द्रियों पर प्रभाव डालते हैं तथा हमें वैषयिक वातावरण का भान कराते हैं। यह कल्पित वातावरण, जिसमें हमारी स्थिति प्रतीत होती है, हमें जटिल परिस्थिति के रूप में प्रतीत होती है जो कि हमारे व्यक्तित्वों को ही प्रभावित नहीं करता वरन् दूसरे व्यक्तियों को भी प्रभावित करता है जिनकी सत्ता को हम मानो अपरोक्षतः ही जान लेते हैं। साधारणतः विश्लेषण, प्रयोग अथवा अध्ययन के द्वारा हमें ज्ञान के तीन साधनों का भान है, जिनमें दो तो हमारे व्यावहारिक जागतिक अनुभव के साथ साक्षात् सम्बन्ध रखते हैं परन्तु एक हममें से अधिकांश को अज्ञात है। अनुभूति की ये तीन प्रणालियां हैं—इन्द्रिय, बुद्धि तथा अन्तर्दृष्टि अथवा ज्ञानचक्षु।

इन्द्रियानुभूति यह प्रकट करती है कि हम एक ऐसे जगत में हैं कि जिसमें हम ज्ञाता के रूप में जगत से पृथक्

हैं। यह जगत भी हमसे पृथक् है क्योंकि यह जड़ होने के कारण विषय वर्ग में आता है जो विषयी अथवा ज्ञाता से भिन्न है क्योंकि ज्ञाता चेतन है जब कि ज्ञेय जगत चेतना रहित है। पुनः हम कैसे इन्द्रियों द्वारा इस जगत का अनुभव करते हैं?

कोई भी व्यक्ति अपनी सतर्क बुद्धि के द्वारा यह समझ सकता है कि इस जगत का विशेष लक्षण है परिवर्त्तन। परिवर्त्तनशीलता सभी वस्तुओं का स्वभाव है। हर वस्तु गतिशील है, प्रवाहित है तथा परिवर्त्तन चक्र में पड़ी हुई है। हमने ऐसी कोई भी वस्तु नहीं देखी, न तो ऐसी वस्तु को देखने की सम्भावना ही है जो कि किसी न किसी प्रकार के परिवर्त्तन अथवा विकार का विषय न हो। यहां तक कि हमारे शरीर, इन्द्रिय तथा हमारे मन भी इस परिवर्त्तन शीलता के अमिट नियम से आक्रांत हैं। वास्तव में हम किसी प्रक्रिया में पड़े हुये हैं, स्वरूप में नहीं हैं।

हम ऐसा कैसे जानते हैं कि परिवर्त्तन है? इसका स्पष्ट उत्तर होगा कि हम देखते हैं। परन्तु यहां हमें यह प्रश्न पूछना होगा। बौद्धिक प्राणी होने के नाते कौन इस व्यावहारिक वक्तव्य से सन्तुष्ट न हो जायगा कि परिवर्त्तन-है क्योंकि हम इसे देखते हैं। परन्तु वास्तव में महान् व्यक्ति वह है जिसमें स्वयं का, ज्ञान प्राप्ति की अपनी शक्ति का तथा वस्तुओं के स्वभाव के निर्णय में अपनी योग्यता का अनुसन्धान करने के लिये धैर्य तथा क्षमता हो। क्या यह ठीक है कि इन्द्रियों से अनुभूत दृश्य को मूल्य दिया जाय? यथार्थता का मापदण्ड क्या है? जब हम कहते हैं कि जगत में हर एक वस्तु परिवर्त्तनशील है तो क्या हम स्वयं

को भी उन परिवर्त्तनों में सन्निहित करते हैं? अब आप ही सोचिये, क्या हम प्रतीयमान परिवर्त्तन के प्रवाह में रहते हुए ही परिवर्त्तन को देख सकते हैं? यदि स्वयं ज्ञाता ही परिवर्त्तन शील है तो क्या परिवर्त्तन का ज्ञान संभव है? यह तथ्य कि गति अथवा परिवर्त्तन को पहचानना हमारे लिये सम्भव है यह प्रमाणित करता है कि हम किसी न किसी प्रकार दृश्य वस्तुओं के द्रष्टा हैं। द्रष्टा स्वयं देखा नहीं जा सकता तथा परिवर्त्तन स्वतः अपना ज्ञान नहीं रख सकता। हम कहते हैं कि नदी बहती है, क्योंकि नदी का तल नहीं बहता तथा हम नदी के प्रवाह के साथ बहते नहीं हैं किनारे पर साक्षी के रूप में खड़े रहते हैं। यह निरीक्षण समझने में सुगम है। हम किसी भी प्रक्रिया के दो भागों की भिन्नता को नहीं जान सकते यदि हम चैतन्य सूत्र में उन दोनों विभिन्न भागों को सम्बद्ध न करें तथा वह चैतन्य जो दो भागों को सन्निहित करता है किसी एक भाग का नहीं हो सकता परन्तु फिर भी वह दोनों भागों में वर्त्तमान है। ज्ञाता ज्ञेय से भिन्न है।

इसी निरीक्षण को समस्त अनुभूति जगत में लागू करते हुये हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि हमें जगत जैसी कोई वस्तु—उसके विषय तथा विभेद—को जानना सम्भव है तो उपलक्षण से हमारी चेतना उतनी व्यापक होनी चाहिये जितना कि हम जानते हैं तथा यह चेतना अनुभूत विषयों की भांति विभिन्नता अथवा विभाजन का विषय नहीं बन सकती। यही दर्शन का आधार स्तम्भ है, यही सच्चे वैज्ञानिक विचार का अवलम्बन है।

सत्य क्या है ? प्राचीन भारत के एक दार्शनिक संत, स्वामी विद्यारण्य ने अपनी महान् कृति पंचदशी में बतलाया है—सत्यत्वम् बाधराहित्यम्—सत्य वही है जिसमें किसी प्रकार का बाध न हो। जो कभी भी परिवर्तित होता नहीं देखा गया किसी प्रकार के भी अनुभव के द्वारा जिसका अतिक्रमण न हो जो अन्य किसी वस्तु पर आश्रित न हो, जो स्वयं प्रमाण हो, अपनी सत्ता के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता न रखता हो, वही सत्य है। सत्य वही है जो हमारे जीवन के अनुभवों के लिये अनिवार्य हो तथा जिसके निषेध करने अथवा नहीं मानने से हमारे सारे अनुभवों का ह्रास हो जाता हो, हमारे पैरों के तले की जमीन ही निकल जाती हो। सत्य इस विश्व का—इसके अन्तर्बाह्य का—स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण जगत का एकमेव चरम तत्व है।

आधुनिक विज्ञान : इसकी उपलब्धि

आधुनिक विज्ञान के विद्यार्थी के नाते तथा भौतिक शास्त्र के क्षेत्र में आधुनिक अन्वेषणों की प्रगति के अध्ययन में रुचि रखने के नाते आपको यह विदित होगा कि आज के विज्ञान ने उस प्राचीन धारणा का कि जगत जड़ तत्त्व से बना है, अतिक्रमण कर दिया है तथा इस धारणा को कि जिस प्रकार हम इन्द्रियों के द्वारा जगत को नानात्व रूप में देखते हैं वैसा ही सत्य है, आधुनिक विज्ञान ने गलत सिद्ध कर दिया है। एक समय वैज्ञानिकों ने हमको बतलाया था कि भौतिक जगत के घटकों को सौ से कुछ कम चरम तत्वों में उतारा जा सकता है—उन्हें आप रसायनिक तत्व कह सकते हैं। बाद में यह आविष्कार

हुआ कि ये तत्व वास्तव में चरम तत्व नहीं हैं वरन् इन्हें भी सूक्ष्मतर तत्वों में लाया जा सकता है जिन्हें परमाणु कहते हैं और जो कुछ विशिष्टताओं के कारण एक दूसरे से भिन्न माने जाते हैं। परन्तु खोज यहीं तक नहीं रुकी! आज हमको बताया जाता है कि हम परमाणुओं के भी सार, शक्तियों, विद्युत-प्रभारों, प्रवैगिक बलों के रहस्यमय जगत में स्थित हैं। प्रारम्भ में जो बहुतत्ववाद की धारणा थी वह धीरे धीरे विलुप्त होती जा रही है तथा वैज्ञानिक यह पहचानने लगे हैं कि एक ही शक्ति सबों में अन्तर्व्याप्त है जो सारी वस्तुओं का सारतत्व मानी जाती है, जो जगत तथा हमारे शरीरों का सार है। हम शक्ति के जगत में हैं जिसमें इससे आगे कोई पृथक्करण नहीं हो सकता तथा जो केवल जगत के पदार्थों का कारण ही नहीं है वरन् यही एकमेव सत्य पदार्थ है। हमें यह बतलाया गया है कि यही शक्ति जब हमारी आंखों के संवेदनिक पटल पर टकराती है तब प्रकाश कही जाती है, जब कर्ण पटल पर टकराती है तो उसे ध्वनि कहते हैं, यह शक्ति ही स्वतः अन्य इन्द्रियों के अनुसार स्वाद, स्पर्श तथा गन्ध कही जाती है। यह हमें आश्चर्य मालूम होता है कि बौद्धिक रूप से इस निष्कर्ष पर पहुंचते हुये भी कि हम वास्तव में विश्वात्म शक्तियों के भाग हैं, हम अपने पृथक् पृथक् व्यक्तित्वों को अपने मनोविकारों तथा संकीर्णताओं के साथ, बनाये हुये हैं। यदि हम इस सत्य पर विश्वास करलें तो हमें व्यक्ति भाव से सोचने का अधिकार नहीं है। हम ब्रह्माण्ड हैं।

क्या है ? क्या यह कुछ परिणाम रखने वाली वस्तु है इसकी लम्बाई चौड़ाई आदि है, इसके कुछ गुण हैं क्योंकि इनके बिना तो हम कुछ जानते ही नहीं ? आपको विदित है कि हम साधारणतः कहते हैं कि जब हम कोई गुण, स्वभाव देखते हैं जो एक को दूसरे से पृथक् करते हैं तब हम कुछ देख पाते हैं। क्या वैज्ञानिकों की विश्वात्म शक्ति में ये अनुभवगम्य गुण हैं ? यदि इसमें परिणाम है अथवा गुण है तो यह जड़ वस्तु होगी तथा यह अपने से पृथक प्रकाशक चैतन्य द्वारा ही जानी जा सकती है।

यह अप्रासंगिक नहीं होगा यदि मैं यह बतला दूँ कि आज कल यह बहुतों में धारणा बनी हुई है कि चेतना भी जड़तत्व से अंकुरित हुई है। परन्तु ऐसी धारणा स्वयं अपना ही विरोध कर डालती है, इसमें विरोधाभास है। क्या जड़ पदार्थ का चैतन्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है अथवा वह चैतन्य से भिन्न है ? यदि चैतन्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है तो ऐसा मानने में क्या हानि है कि केवल चैतन्य ही है, चैतन्य से पृथक् कोई भी वस्तु नहीं है विशेषतः यह स्पष्ट है कि हम पदार्थ की सत्ता को सचेतन मन के बिना मान भी नहीं सकते ? दूसरी ओर यदि पदार्थ चैतन्य से पृथक् है तो वह क्या है जो पदार्थ को चैतन्य से पृथक् करता है। यह पृथक करने वाला तत्व पदार्थ है अथवा चैतन्य है ? क्योंकि तीसरी कोई भी वस्तु संभव नहीं। यदि यह पदार्थ है तो हमें इस पृथक्कारक पदार्थ तथा चैतन्य के बीच भिन्नता के लिये अन्य पृथक्कारक पदार्थ मानना होगा। इस प्रकार हम अनवस्था दोष को प्राप्त करते हैं इसके अतिरिक्त ऐसा सोचना गलत है कि

चैतन्य, जिसका प्रकाशक स्वभाव पदार्थ के स्वभाव से पूर्णतः भिन्न है, पदार्थ का कार्य हो सकता है। कारण को कम से कम कार्य के समान ही सम्पन्न होना चाहिये। यदि कार्य में चेतना है तो कारण में भी चेतना होनी चाहिये। अतः पदार्थ चैतन्य का आगार होता।

कुछ बुद्धिमान वैज्ञानिक जैसे आर्थर एडिंग्टन तथा जेम्स जीन्स को भौतिक शास्त्र के क्षेत्र से दर्शन के क्षेत्र में उतरना पड़ा है। एडिंग्टन एक विश्वात्म चैतन्य को, विश्वात्म चित्त को, जगत का मूलतत्व मानने लगे हैं। जीन्स के लिये यह जगत एक विशाल गणितीय मन का विकास है। सापेक्षवाद के आविष्कर्त्ता अल्बर्ट आइंस्टीन अपने आविष्कार के उपलक्षण द्वारा हमको उस क्षेत्र में ले जाते हैं जहां हमारा साधारण देश काल नहीं रहता, तथा हमारे विषय अपने सारे महत्व तथा अर्थ खो देते हैं तथा उस विशाल दृष्टि के अवर्णनीय रूप में हमारे अनुभवों का पूर्णीकरण हो जाता है। जीवन की संध्या में अपनी भावना द्वारा उन्हें यह मानना पड़ा कि एक व्यापक चैतन्य की सत्ता है जो मानवी मन को आश्चर्य चकित कर देता है तथा उसकी वाणी को मूक बना देता है। यहां हम विज्ञान से दर्शन में पैर डालते हैं।

अपरिवर्त्तनशील चैतन्य

साधारणतः दर्शन की युक्ति विचार की तार्किक प्रणाली का ही विकास है। समझने, विचारने, अनुभव करने तथा संकल्प करने के हमारे साधन कुछ निश्चित श्रेणियों द्वारा सीमित हैं—ये श्रेणियां हैं परिमाण, गुण, सम्बन्ध, देश-काल एवं कारणत्व। सावधानी पूर्वक परीक्षा

के पश्चात यह देखा जाता है कि जिस तरह विज्ञान की खोजें परमार्थतः विश्वस्त नहीं हैं क्योंकि वे हमारे ज्ञानेन्द्रिय अध्ययन के यन्त्रों, के परिवर्त्तनशील स्वभाव से प्रभावित हैं उसी तरह दार्शनिक युक्ति भी कुछ वाह्य नियमों के प्रभाव से वंचित नहीं है। ऐसा हो सकता है कि ये प्रतिबन्धक नियम मन की बनावट के साथ इतने मिले हुये हों कि साधारणतः विचार की प्रणालियों से उनके कार्य व्यापार को अलग करना असम्भव सा ही है। परन्तु यह तो निश्चित है कि सत्य के सम्बन्ध में पूर्ण निर्णय के लिये ये प्रतिबन्ध पूर्ण स्वतंत्रता नहीं रहने देते। क्योंकि हम देश काल, कारणत्व के प्रतिबन्धों के परे न तो कुछ देख सकते सकते हैं, न सुन सकते हैं, और नाहीं कोई विचार कर सकते हैं। ज्यों ही हम सोचते हैं हम, देश, परिमाण, विस्तार तथा क्रम के अनुसार ही चलते हैं। यह मन की पुरानी संकीर्णता है जिसको कि यह नष्ट करने में समर्थ नहीं है। विचार की इन प्रणालियों के साथ इन प्रतिबधों का जो अभेद सम्बन्ध है उसे हम सापेक्षत्व, दृश्यत्व आदि कहते हैं। इन परिस्थितियों में अपरिवर्त्तनशील सत्य नहीं जाना जा सकता। सत्य किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध को स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकियह अन्य किसी भी प्रमाण पर आधारित नहीं है, यह स्वयं में ही प्रतिष्ठित है।

उपर्युक्त विश्लेषण के द्वारा यह स्पष्ट है कि हमारा समस्त जाग्रत अनुभव बुद्धि के द्वारा नियन्त्रित होने के कारण सत्य की खोज के लिये सच्चे प्रयत्न के योग्य नहीं है। हमारा स्वप्न अनुभव किसी भी प्रकार से विशिष्टता नहीं रखता क्योंकि इसके कार्य व्यापार की रूपरेखा भी

जाग्रत अनुभव के सदृश्य ही है अभाग्यत: हम जाग्रत तथा स्वप्न से अतिरिक्त अन्य मानवी अनुभव को नहीं जानते। यही कारण है कि हम ऐसी उक्तियों को सुनते हैं कि सत्य को मानव-मन के लिये नहीं दिया गया है। दर्शन की गम्भीर युक्तियां, जिसका वेदान्त दर्शन में वर्णन है, सुषुप्ति की अवस्था का अध्ययन करती हैं जिसको पाश्चात्य दार्शनिकों ने अपने विश्लेषणात्मक अध्ययन में अज्ञानवश स्थान नहीं दिया है।

हम निस्वप्न सुषुप्ति में सारी चेतना से रहित हो जाते हैं, हम अपने अस्तित्व को भी नहीं जान पाते। परन्तु हम सुषुप्ति में हैं, इसका कोई भी विरोध नहीं कर सकता। अस्तित्व की चेतना के अभाव में भी हमारा अस्तित्व बना हुआ प्रतीत होता है। यदि आप सावधानी पूर्वक विचारें तो आप देखेंगे कि किसी प्रकार की चेतना के बिना कोई भी निश्चय सम्भव नहीं है। फिर वह क्या है जो सुषुप्ति में हमारे अस्तित्व का निश्चय दिलाता है। निश्चय ही यह साक्षात् अनुभव नहीं है। हमें सोने की तथा सोने से पहले की अवस्था की स्मृति है। कल मैं था, आज भी मैं हूँ—इस तरह व्यक्ति निश्चय करता है। इस प्रकार की घटना यह प्रगट करती है कि सुषुप्ति से पहले तथा बाद की अवस्था के बीच एक सम्बन्ध सूत्र है। पहले तथा बाद की अवस्थायें चेतना में सन्निहित हैं। अतः यह सम्बन्ध सूत्र अचेतन पदार्थ नहीं हो सकता। हम ऐसा कभी भी निश्चय नहीं करते कि हम स्वरूपतः अज्ञानी हैं, यहां तक कि मूर्ख व्यक्ति भी ऐसा कहलाना पसन्द नहीं करता। चैतन्य स्वरूप सदा निश्चित है, अनजानते भी।

इससे अतिरिक्त सुषुप्ति की स्मृति यह बतलाती है कि सुषुप्ति में भी एक प्रकार की अनुभूति जारी थी क्योंकि पूर्व अनुभूति के बिना स्मृति की सम्भावना नहीं है। किसी भी अनुभूति का कोई अर्थ नहीं यदि उसके साथ चेतना नहीं। यदि स्मृतिका कोई अर्थ है तो सचेतन अनुभूति निश्चय ही उसके पूर्व रहनी चाहिये इसका निषेध कोई नहीं कर सकता। हममें चेतना थी। सुषुप्ति में भी हम चैतन्य स्वरूप थे; परन्तु हम जानते नहीं थे। किसी रहस्यमय अन्धकार ने हमको आवृत कर रखा था और यह अन्धकार देश कालादि श्रेणियों से होकर सारे वैषयिक अनुभवों की सम्भावना की ही निष्क्रिय क्षमता है।

वेदान्त इस प्रकार हमें ऊपरी तल से नीचे ले जाता है तथा समुद्र में गोता लगाने देता है जहां हम सत्य रूपी मुक्ता को प्राप्त करते हैं, यह सत्य कि हम केवल सचेतन अस्तित्व ही नहीं वरन्न चैतन्य मात्र भी हैं। हम चेतनायुक्त नहीं, अथवा चैतन्य हमारा गुण नहीं वरन् हम चैतन्य स्वरूप ही हैं अन्यथा हम चैतन्य गुणों वाली अचेतन वस्तु को प्राप्त करेंगे। ऐसा कभी भी सम्भव नहीं क्योंकि ज्ञाता को अचेतन तत्व नहीं कह सकते। ज्ञाता तो चैतन्य ही होना चाहिये। वह केवल चैतन्य गुणों वाला नहीं होना चाहिये। अतः हमारा अस्तित्व अनिर्वचनीय ज्योति है जो जगत में ज्ञात सारे प्रकार की ज्योतियाँ, सारे प्रकार के प्रकाशों को मात कर देती है। सन्त तथा ऋषिगण बतलाते हैं कि शब्द उस परमार्थिक तत्व का निरूपण नहीं कर सकते, क्योंकि वाणी मन के साथ ही कार्य में स्थित है तथा वे अपने कारण परमात्मा को प्रकाशित नहीं कर

सकते। यह चैतन्य जो कि हमारा मूल स्वरूप है किसी भी प्रकार से सीमित नहीं हो सकता। क्योंकि चैतन्य की सीमा का विचार ही यह प्रमाणित करता है कि उस सीमा के परे भी चेतना है। सीमा का विचार यह प्रमाणित करता है कि सीमा से परे किसी अस्तित्व का भी विचार अनिवार्य है चैतन्य के लिये सीमारेखा लेना विरोधाभास होगा क्योंकि यह सीमा चैतन्य के क्षेत्र से बाहर नहीं रह सकती है। अतः चैतन्य असीम है।

विभिन्न विपत्तियों तथा जीवन के परिवर्त्तनों के होते भी हमारे व्यक्तित्वों की अनवच्छिन्नता की चेतना यह प्रमाणित करती है कि चैतन्य स्वतः अपरिवर्त्तनशील है। यह तथ्य कि चैतन्य अविभाज्य है, यह प्रमाणित करता है कि चैतन्य असीम है, इसको जानना ही सत्य को जानना है। यही महान् तथा बाध रहित अनुभव है। हम वास्तव में यही हैं। इसमें सारे प्रकार के विभेद तथा फल स्वरूप सारी कामनायें, आसक्तियां, घृणा, क्रोध, मन की संकीर्णतायें आदि का अभाव है।

अन्तर्निहित एकता

इस सम्बन्ध में यदि मैं आपको आधुनिक समय में एक प्रसिद्ध प्रोफेसर अल्फ्रेड नार्थ व्हाइटहेड की रुचिकर दार्शनिक प्रणाली की याद दिला दूं तो यह आपके लिये लाभकर ही होगा। प्रोफेसर अल्फ्रेड नार्थ व्हाइटहेड ने आइंस्टीन के सापेक्षवाद संबंधी खोजों के आधार पर यह दार्शनिक प्रणाली बनाई है। यह व्हाइटहेड की मान्यता है, जो केवल भ्रांत विश्वास मात्र नहीं वरन् बौद्धिक निश्चय है, कि जगत की वस्तुयें त्रिविमा आकाश

में स्थित पदार्थ नहीं हैं वरन् वे वास्तव में शक्ति की अवस्थायें हैं जो एक दूसरे के अन्दर प्रवेश कर रही हैं तथा एक विस्मयकारी पूर्णता का निर्माण कर रही हैं। यहां हर वस्तु कारण है तथा कार्य भी है। इस परस्पर संबंधित विश्वात्म परिवार में हम नहीं कर सकते कि कौन सी वस्तु किस पर निर्भर है क्योंकि यहां पर सभी पारस्परिक संबंध में सन्निहित हैं। यहां पर कुछ भी निरालम्ब नहीं है। इस सापेक्ष जगत में स्वरूपस्थता नहीं हो सकती, परिवर्त्तन तथा गति ही यहां सम्भव है। वेदान्त व्हाइटहेड की धारणा से भी ऊपर जाता है तथा नित्य परमात्मा की सत्ता को बतलाता है जो इस जगत प्रवाह का अधिष्ठान है। वास्तव में सापेक्षवाद का सिद्धांत वैज्ञानिक विचार के स्थान को पूर्णतः बदल डालता है तथा प्रचलित दर्शन की साधारण युक्तियों को भी स्थानान्तरित कर डालता है तथा पदार्थ गति एवं शक्ति की धारणा में एक नूतन दृष्टि लाता है। यह आविष्कार कि अनुभूतियां दर्शकों के स्थान तथा वेग पर निर्भर हैं, यह प्रमाणित करता है कि किसी के लिये भी किसी वस्तु को अपरिवर्त्तनशील सत्य बतलाना असम्भव है। आश्चर्य की बात यह है कि दर्शक स्वतः ही एक दूसरे के साथ सापेक्षता रखेंगे तथा सापेक्षता को देखने वाला कोई नहीं होता। यहां हम प्रबल अन्तर्दृष्टि को प्राप्त करते हैं जो सारे विचारों से परे है तथा उस अचिन्त्य असीम की कल्पना करते हैं जिसे समस्त सापेक्ष जगत का द्रष्टा होना चाहिये। व्हाइट-हेड का "अन्तर्यामी उद्विकास" यह उपलक्षित से करता है कि समस्त उद्विकासन प्रक्रिया के पीछे एक भयंकर एकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि व्हाइटहेड ने स्वयं

ही अपनी दार्शनिक प्रणाली के इस महत्व पर ध्यान नहीं दिया। यह जो कुछ भी उन्हें बतलाना था इससे परे को इंगित करती है। हम नित्य अमर तत्व की ओर उत्थित हो जाते हैं।

दूसरे दृष्टांत के द्वारा मैं इसको और स्पष्ट कर देता हूँ। आपको गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत ज्ञात है। यह एक नियम है जिसके द्वारा वस्तुयें एक दूसरे को विशिष्ट प्रकार से आकृष्ट करती हैं। क्योंकि एक वस्तु का आकर्षण अन्य सभी वस्तुओं के प्रति है। केवल भौतिक वस्तुयें तथा पदार्थ के ही पिण्ड नहीं वरन् हम पिण्ड होने के नाते गुरुत्वाकर्षण के सापेक्षिक केन्द्र तथा एक दूसरे के गुण एवं अस्तित्व को निर्धारित कर रहे हैं। समस्त पिण्डों का एक आंतरिक सम्बंध है जिसका प्रदर्शन गुरुत्वाकर्षण तथा संसक्ति के द्वारा होता है। इससे यह परिलक्षित होता है कि जगत की सभी वस्तुयें किसी रहस्यमय तरीके से एक दूसरे के साथ किसी एक शक्ति के द्वारा जुटे हुये हैं—इसे हम गुरुत्वाकर्षण का सार्वभौमिक केन्द्र कह सकते हैं। ऐसे केन्द्र को ग्रहण किये बिना, जगत के कार्य व्यापार में जो व्यवस्था एवं प्रणाली दृष्टिगत होती है उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती है। रहस्यवादी दार्शनिक कहा करते थे कि यह विश्वात्म केन्द्र सर्वत्र है परन्तु उसकी परिधि कहीं नहीं है। यदि हम चाहें तो इसको ईश्वर कह सकते हैं।

हम जगत को जानते हैं परन्तु जिसके द्वारा इस जगत को जानते हैं, उसके विषय में हम क्या जानते हैं? हम किस प्रकार ज्ञाता को जानें? बृहदारण्यक उपनिषद् में

प्रख्यात महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी के अमृतोपदेश देते हुये आत्मा की आश्चर्यमय सत्ता का वर्णन करते हैं—जो सबों का द्रष्टा तथा ज्ञाता है परन्तु स्वतः किसी के भी ज्ञान का विषय नहीं। यह आत्मा जगत की वस्तुओं में से एक नहीं है परन्तु यह सबों का द्रष्टा है। दो विभिन्न तत्व—विषय पदार्थ तथा उनके द्रष्टा जीव चैतन्य के बिना जो सर्वग्राही है, नहीं जाने जा सकते। ज्ञाता तथा ज्ञेय में जो घनिष्ठ सम्बंध है उसके कारण में विषय चैतन्य के विभिन्न रूपों को बतलाया जाता है अथवा चैतन्य ही विकृत रूप में विषय बना हुआ है। अतः हम समझ जाते हैं कि इन्द्रियों के द्वारा अनुभूत चैतन्य ही पदार्थ है।

एक महान् फ्रांसीसी दार्शनिक एक बार मानवी सत्ता की समस्या, सत्य प्राप्ति की विधि तथा इस महान् प्रयत्न में हर कदम पर बाधाओं की सम्भावनाओं पर चिंतन कर रहा था। उसने सोचा "हो सकता है कि मैं स्पष्टतः देख नहीं सकता और न ठीक ठीक विचार ही कर सकता हूँ, हो सकता है किसी शैतान द्वारा वाध्य होकर मैं गलत विचार कर रहा हूँ, तथा अधूरे रूप में अथवा विकृत रूप में देख रहा हूँ। यह सम्भव है कि जो कुछ भी मैं देखता अथवा विचारता हूँ उसमें कुछ भी अवाध तथ्य नहीं है। सब कुछ सन्देह जनक हो सकता है। मैं अपने शरीर के अस्तित्व की शंका कर सकता हूँ। इस जगत तथा अपने विचारों की प्रामाणिकता की शंका कर सकता हूँ। मेरे समक्ष संदेह का सागर लहरा रहा है, अन्य कुछ भी नहीं है। अच्छा, इस स्थिति को मानते हुये क्या मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचूँ

कि केवल शंका ही है, अपनी आत्मा के विषय में भी केवल शंका ही है अन्य कुछ भी नहीं है। यह सत्य हो सकता है कि मुझे सभी वस्तुओं के विषय में शंका करने का अधिकार है परन्तु क्या मैं इस पर शंका कर सकता हूँ कि मैं शंका करता हूँ? मैं शंका कर रहा हूँ इस तथ्य की मैं शंका नहीं कर सकता। यह शंका करने वाला निश्चय ही है। यह शंका करने वाला अबाध तथ्य है। 'मैं हूँ' यह किसी प्रकार भी सन्देहास्पद नहीं है।

और मैं जानता हूँ कि मैं असीम हूँ। मुझमें यह अन्तवर्त्ती भावना है कि मुझे पूर्ण होना है, मुझे निरपेक्ष पूर्णता को प्राप्त करना है। अतः इसका अर्थ यह है कि मुझे निर्बन्ध होना चाहिये तथा किसी वस्तु की भी इच्छा नहीं रखनी चाहिये। सापेक्षतः मैं असीम को प्राप्त करना चाहता हूँ तथा उसको विचार के रूप में ग्रहणकर सकता हूँ यह विचार कार्य के रूप में है अतः इसका कारण होना चाहिये जो कम से कम उसके बराबर ही हो। यह विचार मुझसे उठा, अतः मैं ही कारण हूँ। यह असीम का विचार यह उपलक्षित करता है कि मैं भी असीम ही हूँ। सीमित कारण से असीम का विचार नहीं उठ सकता। मुझे स्वरूपतः असीम होना चाहिये। इससे विशेष मतलब नहीं कि असीम सत्ता को हम किस नाम से पुकारें। विषयी ज्ञाता का स्वरूप तथा विषय जगत की सत्ता के बीच घनिष्ट सम्बन्ध है, इसमें कोई शंका नहीं। ये दोनों वस्तुयें एक ही हैं। सत्य अद्वैत है।

समझने में आसानी के लिये हम जगत की बनावट को अपने शरीर की बनावट के साथ तुलना करते हैं।

हमारा शरीर अविभाज्य पूर्ण वस्तु नहीं है, यह विभिन्न जीव-तत्वों अथवा जीव कोषों से बना हुआ है। हर जीव-कोष एक दूसरे से भिन्न है जिसके बीच एक रिक्त स्थान है, फिर भी हममें यह दृढ़ निश्चय है कि हम अविभाज्य व्यक्तित्व हैं। हमारे अन्तवर्त्ती चैतन्य ही इस अनुभव का कारण है। इसी अनुभव को यदि ब्रह्मांड तक विकसित कर दिया जाय तो वही ईश्वर का अनुभव होगा। यह ईश्वर चैतन्य व्यक्ति के शरीर चैतन्य का विरोधी है क्योंकि व्यक्ति के लिये व्यक्ति चैतन्य से बाह्यतः विषय वस्तुयें ज्ञेय रूप में हैं परन्तु ईश्वर परिपूर्ण सत्ता है जिसके बाहर कुछ भी नहीं है। विश्वात्म "मैं" की सत्ता में सभी वस्तुयें सन्निहित हैं।

ऋग्वेद का पुरुष सूक्त—विश्वात्म पुरुष सम्बन्धी स्तोत्र बहुत ही काव्यात्मक ढंग से उस परमात्मा को सहस्रों अंगों से युक्त—सहस्र सिर, चक्षु, पैर आदि से युक्त बतलाता है। जो कुछ था, जो कुछ है, तथा जो कुछ होगा वह सब इस पुरुष में ही सन्निहित है। इस विशाल दृष्टि के पीछे यही दृष्टिकोण है कि यह जगत एक शरीर है और जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग एवं अवयव हमारे व्यक्ति चैतन्य में एकीभूत हैं उसी तरह जगत के विभिन्न अंग—हमारे शरीरों के सहित—उस सर्वशक्तिमान में परम तत्व के रूप में एकीभूत हैं। उसे हम ईश्वर, स्वरूप, सत्य आदि कहते हैं। इस सत्य के सम्यक् अवबोध से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस जगत में हमारा स्थान क्या है, हमारा दूसरों के साथ सम्बन्ध क्या है तथा जीवन में परम कर्त्तव्य क्या है। इससे बढ़कर उन्नत कर्त्तव्य अथवा उत्तरदायित्व

क्या हो सकता है, हमें इस परमात्मा में ही अपनी सत्ता को परिसमाप्त करने के लिये सारी शक्ति लगाकर प्रयत्न करना है। इस लक्ष्य को छोड़ कर अन्य कौन लक्ष्य हमको जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्राप्त करना है ! इस दृष्टि से—क्योंकि अन्य कोई दृष्टि सम्भव नहीं मनुष्य का परम कर्त्तव्य वही है कि जो इस परम लक्ष्य के साक्षात्कार के साथ प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः सम्बन्धित हो। हम इसी के लिये जीवित हैं इसी ओर जा रहे हैं तथा इसी में हमारी सत्ता है। जब हम यह जानते हैं तथा यह भावना हमारे अन्तरतम में प्रवेश कर लेती है तब हम सच्चा जीवन जीते हैं, तभी हम धन्य हैं।

——::•::——

आन्तरिक मनुष्य का मनोविज्ञान

संवेदन की सापेक्षता

हमने यह देख लिया है कि स्वरूपगत आत्मा ही परम सत्य है। इसके विषय में शंका अथवा निषेध भी इसकी सत्ता को स्वीकार ही करता है। साधारण वाह्यतः जीवन में हम ऐसा मानने को तैयार रहते हैं कि हमारी आंखें ही वस्तुओं की द्रष्टा हैं। यह साधारण मनुष्य का विचार है। परन्तु ऐसा समझना कठिन नहीं कि आंखों को स्वतः वह शक्ति प्राप्त नहीं जिससे वे स्वतन्त्र रूप में वस्तुओं को जान लें। स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं में यह विषय स्पष्ट हो जाता है क्योंकि यदि आंखें इन अवस्थाओं में खुली भी हों तो मनुष्य न किसी वाह्य वस्तु को देख सकता है और न उसका अध्ययन ही कर सकता है। इन अवस्थाओं में कोई भी इन्द्रिय कार्य करती प्रतीत नहीं होती। कान खुले रहने पर भी शब्द नहीं सुन सकते। यदि सोए हुये मनुष्य की जिह्वा पर कुछ चीनी के कण रख दीजिये तो इसकी कुछ भी प्रतिक्रिया न होगी तथा उसको इसका स्वाद मालूम न होगा। इन अवस्थाओं में शरीर के व्यावहारिक अस्तित्व का ही निषेध हो जाता है।

इसका कारण यह है, जैसा कि आप शीघ्र ही समझ लेंगे, इन अवस्थाओं में मन शरीर से उपरत हो जाता है तथा इन्द्रियों के साथ कोई भी सम्पर्क नहीं रह जाता। जब मन इन्द्रियों को व्याप्त करता है तथा उनको कार्यों के लिये प्रवृत्त करता है तभी वे सचेतन इन्द्रियों के समान कार्य करती मालूम होती हैं। परन्तु जब वे मन के सम्बन्ध से पृथक् हो जाती हैं तब उनका सारा मूल्य ही चला जाता है। मन वास्तव में संवेदनों का ज्ञाता है तथा उसके लिए वे इन्द्रियां भी विषयों की ही श्रेणी में हैं।

परन्तु गम्भीरतर विश्लेषण यह प्रकट करता है कि यह मन भी विषय स्वभाव का ही है क्योंकि मूर्छा तथा सुषुप्ति में इसकी सारी चेतना जाती रहती है। यह जाग्रत अवस्था में सचेतन रहता है परन्तु जब इसके कार्य व्यापारों को सुषुप्ति में रोक दिया जाता है तब वह अचेतन हो जाता है। एक चेतना, जो मन से भी ऊँची है, इसको सचेतन बनाती है तथा इसको मूल्य देती है। मन मनोवैज्ञानिक इन्द्रिय है, यह दार्शनिक तत्व नहीं है। मन के सापेक्ष कार्य व्यापारों के कारण ही हमको इस संसार में अनुभव की विभिन्नता दिखाई देती है। मन ही विषयों तथा उसके प्रति हमारी प्रतिक्रिया के बीच, अस्तित्व तथा मूल्य के बीच एक खाई लाता है। यह विभिन्नता बाह्य: जगत के विषयों के सम्बन्ध में ही नहीं परन्तु अपने व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू में भी लाई जाती है। उदाहरणत: यह भौतिक शरीर (अन्नमय कोष) पंचतत्वों का—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश का बना है। प्राणमय कोष प्राणिक शक्तियों तथा कर्मेन्द्रियों से बना हुआ है; मनोमय कोष समझने, अनुभव

करने, संकल्प करने, स्मृति आदि क्षमताओं तथा पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बना हुआ है तथा आनन्दमय कोष सुषुप्ति में अनुभवगम्य है एवं यह कारणतत्व से बना हुआ है। सरलता के लिये हम तमाम मनोवैज्ञानिक कार्य-व्यापारों को मन कहकर ही पुकारते हैं। यह वाह्य जगत मन के द्वारा जिस प्रकार अनुभूत होता है यह मन की कमजोरी तथा उसकी आन्तरिक दुर्बलताओं पर ही निर्भर है।

उपर्युक्त सिद्धांत का प्रतिपादन हमारे दैनिक जीवन में प्रचुर रूपेण होता है। उदाहरणतः पुत्र के प्रति माता की दृष्टि को लीजिए। कहा जाता है कि एक वृद्ध माता का पुत्र सैनिक कार्य करने विदेश चला गया तथा वहां से वर्षों के उपरांत भी वह घर को न लौटा तो यह अफवाह उड़ी कि वह लड़का विदेश में ही मर गया, इस संघातक समाचार के द्वारा माता का हृदय भग्न हो गया। परन्तु वास्तव में पुत्र जीवित था परंतु वह समाचार निराधार था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पुत्र का स्वास्थ्य अथवा जीवन माता के मानसिक अनुभव का कारण नहीं था क्योंकि इस उदाहरण में माता को सुखी होना चाहिये था क्योंकि उसके पुत्र को वास्तव में कोई भी हानि नहीं पहुंची थी। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि पुत्र का दुख अथवा शोक या मृत्यु माता के दुख के लिये कारण थी क्योंकि यदि वास्तव में पुत्र मर भी जाय और समाचार माता को नहीं पहुँचाया जाय तब भी वह प्रसन्न ही रहती। तो सचेतन अनुभव का केन्द्रीय स्तम्भ क्या है? आन्तरिक अनुभव तथा प्रतिक्रिया का जितना महत्व है उतना वाह्य विषय अथवा घटना का नहीं।

जीवन एक प्रक्रिया है

वेदांत दर्शन स्वतः अस्तित्व तथा किसी प्रकार के अस्तित्व के बीच भेद बतलाता है। हम कह सकते हैं, यदि हम चाहें, कि कोई भी तथ्य अथवा अस्तित्व पारमार्थिक है परन्तु हमारा अनुभव सापेक्ष है। मानव जीवन मानसिक प्रक्रिया है, यह अविचल अस्तित्व नहीं है। जीवन को पूर्ण रूप से समझने के लिये मन के कार्य व्यापारों का ज्ञान होना आवश्यक है। मन के अध्ययन के लिए हमारे पास कोई भी यंत्र नहीं है जैसा कि वाह्य वस्तुओं के माप, परीक्षण अथवा शुद्धीकरण के लिये हमारे पास यन्त्र हैं। मन ही अध्ययन कर्त्ता तथा अध्ययन का विषय भी है जब कि पूर्ण जीवन ही हमारे अनुसन्धान तथा साक्षात्कार का लक्ष्य है। कठोपनिषद् में दिये गए एक प्रख्यात रूपक में मनुष्य की अन्तरात्मा को रथ पर बैठे हुये रथी बताया गया है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रियों की तुलना घोड़ों से की जाती है तथा इन्द्रियों के विषय ही पथ हैं जिनसे होकर यह रथ हांका जाता है। उपनिषद् हमको सावधान करती है कि उसी मनुष्य के द्वारा परम पद की प्राप्ति सम्भव है जिसका विवेक बुद्धि के रूप में शक्तिशाली सारथी है, जो मन रूपी लगाम के द्वारा इन्द्रिय रूपी उपद्रवी घोड़ों को अनुशासित करता है और उस व्यक्ति के लिये परम पद की प्राप्ति असंभव है जिसके पास बुरा सारथी है। इस रूपक का अर्थ यह है कि मानवी व्यक्तित्व वाह्य यन्त्र है जिसको आन्तरिक प्रवृत्ति तथा बुद्धि द्वारा जीवन के लक्ष्य की ओर लगाना चाहिये तथा उसको ही जीवन का लक्ष्य अथवा भ्रान्तिवश चरम सत्य नहीं मान लेना चाहिये।

केवल शरीर तथा इन्द्रिय ही नहीं परन्तु जीवात्मा भी जिसको चैतन्य का वैयक्तिक केन्द्र माना गया है महत् प्रक्रिया में पड़ा हुआ है। यह सदा गतिशील, परिवर्त्तनशील तथा प्रगतिशील है। जीवात्मा ही ज्ञान तथा कर्म का आधार है। देश-कालीय अस्तित्व में आबद्ध होने के कारण ही जीवात्मा कुछ विशेष प्रवृत्तियों से आक्रांत है। ये प्रवृत्तियां जीवात्मा में ही अनुभूत होती हैं तथा कुछ वाह्य विषयों तथा अवस्थाओं की ओर इंगित करती हैं। भोजन, वस्त्र तथा आश्रय, नाम, यश, शक्ति, निद्रा, मैथुन आदि की कामनायें बहुधा मनुष्य में प्रबल वेग के रूप में प्रकट होती हैं जिन्हें सुगमतया दबा नहीं सकते और न तो बुद्धिमानी पूर्वक उनको अनुशासित ही किया जा सकता है। ये गहरी गड़ी हुई प्रवृत्तियां द्वैत जगत के अनुभव से परिच्छिन्न जीवात्मा तथा तत्फलतः स्वयं में आत्मत्व भ्रांति के विकास से ही उत्पन्न हुई हैं। व्यक्ति में यह बुरी प्रवृत्ति है कि वह अनजाने ही स्वयं को अनुभव केन्द्र मानने लगता है तथा विषय के अन्य पदार्थों को विशेषण तथा अपने लिये विषयों को सहायक मान बैठता है जो उसको किसी न किसी प्रकार की तृप्ति प्रदान करेंगे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मानवी ज्ञान के सारे प्रकार क्रिया के विभिन्न रूप हैं जिन्हें विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति करना है, जो उद्देश्य उन रूपों से पृथक् हैं। मनुष्य कभी भी नहीं "है" उसे सदा "होना" है। यह स्थिति इस भावना की ही उपसाध्य है कि हम उन मशीन सम्बन्धी पूर्णता के अन्तर्गत स्थानीय एवं सीमित तत्व हैं जिसको हम जगत कहते हैं तथा ऐसा प्रतीत होता है कि उस

जगत का हमको सम्पूर्ण ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। हमारी अनुभूतियां सदा क्रमशः होती हैं। हम एक के बाद दूसरी के क्रम से वस्तुओं को जानते हैं। हम एक ही बार सब कुछ नहीं जान लेते। सिनेमा के चलचित्रों को देखने के समय हम एक ही चित्र को दो क्षणों के लिये नहीं देख सकते परन्तु फिर भी रूपों का अस्वित्व एक जैसा ही बना हुआ प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि इन चित्रों की गतियां बहुत ही तीव्र क्रम से पर्दे पर प्रक्षिप्त होती हैं। वास्तव में हम किसी भी अनुभूति विशेष में एक ही वस्तु को कदापि नहीं देखते वरन् मन इतना गतिशील है कि हमें स्थिर अस्तित्व की अनुभूति का भ्रम हो जाता है। मुख्य बात तो यह है कि इन सारे मानसिक व्यापारों के पीछे वह परमात्मा है जिससे ये मानस व्यापार अपने अस्तित्व एवं प्रकाश को प्राप्त करते हैं।

विचार तथा उसके कार्यों को दर्शन की दृष्टि से देखने पर हर एक कर्म, चाहे किसी भी कोष के साथ उसका सम्बन्ध क्यों न हो, हमारी सापेक्ष चेतना की अशान्ति का ही परिलक्षक है। यह सीमाओं को ध्वस्त करने, सारे प्रतिबन्धों को नष्ट करने तथा हर कदम पर स्वयं का अतिक्रमण करने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील है। हमारा जीवन सापेक्ष चैतन्य के लिये एक परिस्थिति है अथवा सुअवसर है जिससे वह प्रगति की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार अपने अनुभव में वृद्धि लाने के लिये जिस वस्तु की उसको आवश्यकता है उसे खोज सके तथा प्राप्त कर सके। यह जगत असंख्य जैविक केन्द्रों के लिये मानस् अनुभव का एक विशाल क्षेत्र है जहां वे जीव वैषयिक

अनुभव के द्वारा अपने कर्मों को भुगतते हैं। यह जगत समष्टि-मन (हिरण्य गर्भ) द्वारा अनुभव का दूसरा नाम है; सापेक्ष मन इसी के भुजायित (विकृत) अंग हैं। जीवन में इष्ट तथा अनिष्ट वस्तुयें वास्तव में उन अज्ञानी व्यक्तियों की अनियमबद्ध एवं उच्छृंखल कामनाओं के ही निश्चित परिणाम हैं जो अपने चरम लक्ष्य को नहीं जानते। जो आज अभीष्ट है वह सदा वैसा ही नहीं रहेगा तथा आज का अनिष्टप्रद अनुभव कल के लिये वरदान हो सकता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि जो कुछ भी हम चाहते हैं वह सदा अच्छा ही हो। हम बहुधा अन्धकार में भटकते हैं तथा विष के प्याले को भी अत्यन्त रुचि के साथ पीते हैं जबकि हम वास्तव में अपनी भूख को शान्त करने के लिये किसी स्वादिष्ट अन्न की तलाश में हैं। इस जगत में अथवा विषयों में कोई भी गलती नहीं है परन्तु यह दुखद तथ्य ही इसका कारण है हम यह नहीं जानते कि हमारे लिये कल्याणकर क्या है? किसी भी वैद्य के लिये केवल इतना ही जानना पर्याप्त नहीं है कि यह विशेष औषधि किसी विशेष व्याधि को दबाने की ताकत रखती है, उसको यह भी जानना चाहिये कि जीवित शरीर में इस औषधि की कौन-कौन-सी प्रतिक्रियायें होंगी। हमारे जीवन में अपने मन को स्वयं ही वैद्य बनना होगा, तथा इस कार्य के लिये सम्यक् अनुभूति के आधार पर महान् सावधानी बरतनी होगी। कोई भी विचार, भावना अथवा संकल्प स्वस्थ नहीं कहा जा सकता है जब तक कि वह समस्त विश्व की शान्ति तथा स्वस्थता के अनुकूल न हो। यह तथ्य कि हम एक अविभाज्य परिवार के सदस्य हैं यह बतलाता है कि हममें पारस्परिक सहयोग की आव-

श्यकता है तथा हमें पारस्परिक कल्याण के आधार पर ही सोचना तथा कर्म करना चाहिये, यही अन्ततः समष्टि का कल्याण है। यदि मन को यह ज्ञान नहीं दिया जाय तो यह अन्धतापूर्वक कार्य करता है तथा इस भावना के कारण गलतियां करता है कि जो कुछ सुख के कुछ क्षणिक संवेदनों को लाता है वही सत्य तथा शुभ है। जब वह आलोकित बुद्धि के द्वारा जीवन की शिक्षाओं को नहीं सीख पाता तब उसको उन्हीं शिक्षाओं को कष्टपूर्वक सीखना पड़ता है।

वेदान्त दर्शन में मन को जड़ पदार्थ के प्रतिकूल कोई स्वतन्त्र तत्व नहीं मानते, जैसा कि पाश्चात्य दर्शन की कई प्रणालियों में माना जाता है जो अधिक परिष्कृत रूप से प्रतीत हो रहा है। वेदान्त का मनोविज्ञान महत्तर वैज्ञानिक पद्धति है। यह इस मौलिक धारणा से उत्पन्न हुआ है कि परम सत्य परम चैतन्य है तथा जो कुछ भी इसके प्रतिकूल मालूम पड़ता हो वह उसी का ही एक पहलू है। वैषयिक अनुभूति के ये पांच आधार— शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—ज्ञानेन्द्रियों के साथ पारस्परिक संबंध में सन्नद्ध हैं तथा उससे अलग नहीं किये जा सकते। ये ज्ञानेन्द्रिय मन के आदेशानुसार कार्य करते हैं। वेदान्त का सिद्धान्त यह है कि मन जिसका कार्य मुख्यतः बोध करना, सोचना, अनुभव करना, स्मरण करना तथा संकल्प करना है, पंच संवेदनाओं के सार तत्वों के शुद्ध रूप का सामष्टिक परिणामी है। संवेदनाओं तथा उनके विषयों के बीच जो सहानुभूति देखी जाती है उसकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है कि ये दोनों स्वरूपतः एक ही हैं। इतना ही नहीं मन, इन्द्रिय तथा विषयों के परे एक महत्तर सत्य की भी मान्यता है जो परम सत्य है। वैदांतिक

मनोविज्ञान वेदान्त दर्शन का परिणाम है जो बतलाता है कि अस्तित्व अद्वैत है। ज्ञाता तथा ज्ञेय की अन्तिम अविभाज्यता के आधार पर ही हमें जगत पर शासन करने वाले तथा वैयक्तिक एवं सामाजिक नियमों को समझना चाहिये।

तदनुसार ऋत तथा सत्य के ऊपर आधारित धर्म को ही सर्वोच्च नियम माना जाता है। ऋत तथा सत्य ये ये दो शब्द हैं जो वेदों में मूलतः पाये जाते हैं। नित्य विश्व व्यवस्था को ऋत कहते हैं तथा इस नानात्वपूर्ण जगत में उसी की अभिव्यक्ति को सत्य कहते हैं। विश्व का एक आवश्यक अंग होने के नाते धर्म मनुष्य का कर्त्तव्य है। इसके द्वारा मनुष्य का परिवार, समाज, राष्ट्र तथा समस्त जगत के प्रति कर्त्तव्य परिलक्षित होता है। इस धर्म का पालन उच्छृंखल रूप से अथवा ऊँची छलांगें लगाकर नहीं किया जा सकता परन्तु विश्व की प्रगति के अनुसार क्रमबद्धता के रूप में ही किया जा सकता है। भौतिक कल्याण, कामनाओं का उपभोग तथा सामाजिक सम्बन्ध को धर्म में समुचित स्थान दिया गया है तथा ये धर्म द्वारा समान रूप से अनुशासित हैं। साथ ही धर्म मोक्ष अथवा असीम के साक्षात्कार की ओर पथ प्रशस्त करता है। धर्म नैतिक मूल्य है, अर्थ भौतिक अथवा आर्थिक मूल्य है, काम प्राणिक मूल्य है तथा मोक्ष जीवन का असीम मूल्य है। असीम में सारे ससीम सन्निहित हैं। अतः मोक्ष के लिये मुमुक्षुत्व के अंतर्गत सारी कामनाओं की पूर्ति तथा जीवन के सारे कर्त्तव्यों का सम्पादन स्वतः ही सन्निहित है। मन में इस दिव्य मुमुक्षुत्व की उत्पत्ति तभी होती है जब मनुष्य में जगत की वस्तुओं के प्रति उपेक्षा

का भाव उदित हो "यह अब बहुत हो गया।" यही दिव्य असन्तोष है जो परमात्मा की प्राप्ति के लिये आत्म संघर्ष का अग्रदूत है। यहीं सच्चे ज्ञान का उदय होता है।

सामान्य मनोवैज्ञानिक अनुभव साधारणतः आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से वंचित रहता है। प्रेय का मार्ग श्रेय के मार्ग से पृथक है। इन्द्रियां जो हमारे पास सूचनायें लाती हैं वे सत्य तथा शुभ हों ऐसी बात नहीं है। प्रायः वे मिथ्या सूचनायें देती हैं तथा मिथ्या मृगतृष्णावत् भ्रमों में डाल देती हैं; ज्यों ज्यों हम निकट आते जाते हैं यह मृग-मरीचिका दूर भागती जाती है। इस खेद जनक परिस्थिति के कारण ही हम एक विषय को छोड़ दूसरे विषय के साथ प्रयोग शुरू कर देते हैं तथा चरम तृप्ति की खोज करते रहते हैं परन्तु उसको कहीं भी प्राप्त नहीं कर पाते। यह निष्फल खोज तब तक चलती रहती है जब तक कि मनुष्य को इसका पता नहीं चल जाता कि नानात्व के आधार पर सारे मानसिक विचार व्यर्थ हैं तथा अस्तित्व की पूर्णता के क्षेत्रों में शांति की प्राप्ति सम्भव है। व्यक्ति विकसित होकर परिवार को, परिवार से जाति को, जाति से समाज अथवा राष्ट्र को, राष्ट्र से समस्त संसार को, समस्त संसार से ब्रह्मांड को अपने अन्दर सन्निहित कर लेता है, ब्रह्मांड के अनन्तर विकास की क्रिया रुक जाती है तथा वह अन्तर्मुखी होकर अनुभव के केन्द्र को प्राप्त कर लेता है जो परमात्मतत्व के साथ तादात्म्य सम्बन्ध रखता है। इसको दृष्टि में रखते हुये उपनिषद के ऋषि हमको सावधान करते हैं कि हम जिस किसी भी वस्तु को अपनी आत्मा से भिन्न मानेंगे, वही हमारा परित्याग कर देगी।

किसी दूसरे के लिये तृप्ति का साधन नहीं मान सकते इस परस्पर आश्रित जगत में साध्य ही हैं साधन नहीं। भगवद्गीता कहती है कि जितने भी सुख मन एवं इन्द्रियों के स्पर्श से उत्पन्न होते हैं वे सभी दुखों की योनि हैं। क्योंकि वाह्य संस्पर्श के द्वारा सत्य का संयोग नहीं हो सकता। इन्द्रिय सुखों से अतृप्ति, उनके साथ भय का बना रहना, आदतों तथा भोगजन्य संस्कारों के शिकार बनने की आशंका, अन्य कामनाओं, अधिक विक्षेपों की उत्पत्ति की अनिवार्यता, इसके साथ इन्द्रियों का निस्तेज होना आदि पर विचार कर विवेकी मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी चेतना को उन्नत जीवन की ओर लगावे।

सम्यक् कर्म का रहस्य

कोई भी कर्म अभीष्ट फल को प्रदान करता हुआ प्रतीत नहीं होता क्योंकि इसके साथ कई कारण लगे हुये हैं जो कर्त्ता के अधीन नहीं हैं। ऐसा विचारना निरर्थक है कि ईश्वरीय जीवन स्वाभाविक जीवन नहीं है वरन् यह कुछ रहस्यवादी योगियों का अन्तरोन्मुख एवं असम्बद्ध जीवन है क्योंकि हम अध्यात्मिक जीवन तथा जीवन के लक्ष्य के प्रति अज्ञान रखते हैं। यही कारण है कि यह गलत धारणा उत्पन्न होती है। जब हर प्रकार के कर्म को ईश्वर अथवा परमात्मा के विश्वात्म कार्य की प्रक्रिया के रूप में देखते हैं तब वैयक्तिक कर्तृत्व की भावना पूर्णतः नष्ट हो जाती है। भगवद्गीता के आत्मोद्बोधक सिद्धांत को सुनिये—ज्ञानी मनुष्य को सदा यह भावना बनाये रखनी चाहिये कि कर्त्ता, क्रिया तथा कर्म का फल

विश्वात्म इच्छा के पहलू हैं। यहां इस कथन की सत्यता प्रकट हो जाती है कि हमें स्वयं को निमित्त मात्र ही मानना चाहिये, किसी भी कर्म का वास्तविक कर्त्ता नहीं। यही कर्मयोग है जो हर कर्म को कर्त्तव्य में तथा आत्म त्याग, आत्मार्पण तथा आत्मोत्सर्ग में परिणत करने की महान् प्रक्रिया है। कर्मयोग को बुद्धियोग पर अधारित बतलाया गया है। बुद्धियोग समझने की कला है, यह समझ कि मनुष्य सदा ईश्वर के साथ एकता की अवस्था में है। यहां तक कि नैसर्गिक कर्मों के स्रोत भी ईश्वरीय पूर्णता की कामना की विकृति में ही सन्निहित हैं। नैसर्गिक कर्म अज्ञान के अधीन दुख पाता है—ऐसा अज्ञान कि शरीर तथा मन दूसरे शरीर तथा मन से पृथक हैं। यही दुख संसार है, यह आत्मा का स्वरूप से च्युति है तथा परिणाम-स्वरूप आत्मा स्वतः को ही अनात्म तत्वों में, भ्रान्ति एवं कल्पना जालों में खोजती है।

हम क्यों एक विशेष प्रकार से विचारते तथा अनुभव करते हैं अथवा कर्म करते हैं? इसका कारण वैयक्तिक अस्तित्व है। शरीर तथा मन सार्वभौमिक परिपोषण को प्राप्त करते हैं। वे केवल परिपोषित ही नहीं होते वरन् शक्ति के सागर से ही निर्मित हैं जो देशकाल परिच्छेद से होकर नानात्व के रूप में अभिव्यक्त होता है। हमारी केन्द्रीय वृत्ति है कि हम देश काल सम्बन्धी परिच्छेदों का अतिक्रमण कर उस अनुभव को प्राप्त करें जो आत्माश्रित, आत्म संस्थित तथा स्वयं पूर्ण है। उपनिषदों में इस अवस्था को भूमा बतलाया गया है जहां मनुष्य कुछ भी अन्य नहीं देखता, न अन्य सुनता है और न अन्य समझता ही है। साथ ही यह भी कहा है कि उसको

अल्प समझना चाहिये जहां मनुष्य अन्य को देखता, सुनता तथा समझता है। इन परिस्थितियों में किसी भी व्यक्तित्व में अभिमान द्वारा सत्य को आरोपित करना व्यर्थ प्रयास है। इस अभिमान को ही स्वार्थ तथा मूर्खता कहते हैं।

इस रहस्यमय ब्रह्मांड में जो स्पन्दनात्मक प्रको समान है जहां छोटे शब्द भी जोर के साथ प्रतिध्वनित जाते हैं; जहां कुछ भी गुप्त रूप से नहीं रह सकता; विचार चाहे वह कितना ही मन्द क्यों न हो, स्वतः स्वयं को प्रतिघोषित करता है तथा सूक्ष्म क्षेत्रों में अ हो जाता है, उसका कदापि नाश नहीं होता तथा सा रूप से उसकी प्रतिक्रिया होती है। हर विचार अस्ति के सागर में एक क्षुद्र तरंग के समान है तथा जिस त अन्य वस्तुओं के अस्तित्व का अथवा मूल्य रखने अधिकार है उसी तरह उस विचार को भी है। अतः ह व्यक्ति के पीछे असीम अवलम्ब है, असीम सहायता असीम सहानुभूति है, हां हमें उसका आह्वान करन होगा। इसकी चेतना रखनी होगी। धर्मों की एकता दार्शनिक विचार की समरसता, विश्वबन्धुत्व का अर्थ तथ जीवन में विश्व प्रेम की आवश्यकता की व्याख्या यह हो चुकी तथा अब हम इसको पहचानने में समर्थ हो चुके हैं कि यह केवल कल्पना, मौखिक सिद्धांत, मत-मतान्तर नहीं है वरन् यह जीवन का एकमेव नियम है। यह वैयक्तिक तथा समाजिक अतिजीविता का नियम है तथा हमारे अस्तित्व का एकमेव सिद्धांत एवं अभिप्राय है।

हमने अभी जिस एकमेव नियम की खोज की है उसी नियम की दृष्टि में हमें संसार की हर वस्तु, क्षुद्रतम से लेकर महत्तम तक, सभी पदार्थों के विषय में निर्णय प्राप्त करना होगा अथवा उसके मूल्य का अंकण करना होगा। यह नियम हमारे अन्तर्वाह्य कार्य कर रहा है। वास्तविक नीति महत्तर के द्वारा निम्नतर का निश्चय करना है, हर कदम को अगले कदम की तैयारी के रूप में रखना है। इस जगत में जीवन साधन है, जो जब पूर्णतः विकसित हो जाता है, तब लक्ष्य के रूप में परिणत हो जाता है तथा साधन के विकास के हर स्तर पर वह लक्ष्य पहले से ही वर्त्तमान है। इस प्रकार यह जगत मशीनवत् नहीं वरन् सम्पूर्ण है। हम जीव जो कि इस जगत में निवास करते हैं, एक दूसरे से इस तरह सम्बद्ध नहीं हैं जिस तरह कि कंकड़ पत्थर किसी ढेर में सम्बद्ध रहते हैं वरन् हम जीवन्त पूर्ण वस्तु के जीवित अङ्गों की भांति अनन्य रूप से सम्बद्ध हैं तथा इस सम्बन्ध का विच्छेद अथवा नाश हो ही नहीं सकता। हमारे सामाजिक सम्बन्धों का गम्भीर अर्थ है, जैसा वाह्यतः दृष्टिगत होता है उससे बहुत अधिक गम्भीर। हमारे सम्बन्ध का मूल्य सार्वभौमिक आत्मा की सत्ता पर आधारित होना चाहिये तथा जीवन के हर स्तर में हमको इस ओर कर्त्तव्य करने चाहिये। यद्यपि वर्त्तमान अवस्था में हमको इसका पर्याप्त ज्ञान नहीं है फिर भी अनुभूतियां द्वारा हम इसे ही अनुभव कर रहे हैं, भावनाओं द्वारा इसकी ही भावना कर रहे हैं तथा अपने कर्मों में हर क्षण हम इसी की चट्टान के साथ टकराते रहते हैं। मानव व्यक्तित्व के मानसिक आचरण का अध्ययन ही मनुष्य का मनोविज्ञान है तथा जैसा कि हम देख चुके हैं यह

व्यक्तित्व कुछ ऐसी अनिच्छित प्रवृत्तियों का एक झमेला है जो तृप्ति के लिये वैसी वस्तुओं की खोज कर रही हैं जिन्हें वे नहीं जानतीं। एक ही वस्तु सहायक है और वह है उन्नत बुद्धि जो कभी कभी उनसे परे के जीवन को परिलक्षित करती है। हम तब तक गम्भीर मनोवैज्ञानिक नहीं बन सकते, जिससे हमारे आचरण में निहित रहस्यों का ज्ञान हो, जब तक कि हम अन्दर से निकलने वाली आवाजों को धैर्यपूर्वक न सुनें तथा बुद्धि पूर्वक उनके साथ सहानुभूति न बरतें। हम अपनी बीमारी को नहीं छुड़ा सकते यदि हमको यह मालूम न हो कि हम क्यों बीमार पड़े। पाश्चात्य दृष्टि से मनोविज्ञान के पास वैसे यन्त्र नहीं जिनसे मानवी व्यक्तित्व की गहराइयों का पता चल सके, यह मनोविज्ञान वाह्य दृश्य जगत तक ही सीमित है। अज्ञानी इन्द्रियां बुद्धि को अनुभूतियां प्रदान करती हैं तथा बुद्धि धोखे में पड़ी रहती है। बुद्धि में भी यह समझने की योग्यता होनी चाहिये कि उसमें सीमारेखायें हैं तथा उसकी ससीमता का कारण भी है। आधुनिक युग के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, आन्तरिक अनुसन्धान के क्षेत्र में अन्तिम निष्कर्ष नहीं रखते क्योंकि इन्द्रियों के अतिरिक्त हमारे पास ज्ञान के अन्य साधन भी हैं। मन जब तक उपद्रवी इन्द्रियों के द्वारा अशान्त बना रहता है तब तक वह वस्तु स्थिति का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। जब मन तथा बुद्धि के साथ पंच इन्द्रियां स्थिर हो जाती हैं तथा बुद्धि चलायमान नहीं होती तब वही प्रथम अवस्था है। ऐसा कठोपनिषद् कहती है। इसको ही योग की स्थिति कहते हैं जिसमें चेतना इन्द्रियों द्वारा विषयोन्मुख नहीं होती तथा मन स्वतः में ही निवास करता है। असीम के साथ

एकरसता ही योग है। इस महान् सत्य को यदि दृष्टि में न रखा गया तथा हमारे प्रयत्न इसी आधार पर टिके रहेंगे कि जो कुछ भी हम अपनी आंखों से देखते हैं वही सर्वस्व है तो मन का कोई भी विज्ञान अथवा मनुष्य का आंतरिक व्यवहार ठीक तथा सार्थक नहीं हो सकता। हमारा लक्ष्य इससे पूर्णतः भिन्न है तथा इस दृष्टिकोण के महत्व को जानने के लिये हमको पूर्णतः भिन्न शिक्षा की आवश्यकता है।

—:०:—

जीवन में सफलता के सुनिश्चित साधन

योग : कला तथा विज्ञान

योग-प्रणाली, विशेष कर महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योगदर्शन मानस् तत्व का अधिकार पूर्ण विज्ञान है। स्पष्ट अनुभूति तथा सच्ची अन्तर्दृष्टि के लिये पतंजलि महर्षि ने चित्त की वृत्तियों के निरोध का आदेश दिया है। वे कहते हैं कि जब हम चित्त वृत्तियों के साथ विचार करना बन्द कर देते हैं तथा अनुभूति के एक पूर्णतः पृथक मार्ग को अपनाते हैं, तब हम स्वरूपस्थ हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, हमें अपने स्वरूप में ही संस्थित होना है जिससे कि हम स्वस्थ हों तथा वस्तुओं की स्वस्थ अनुभूति को प्राप्त कर सकें। हमारे योग-दर्शन में सारे प्रकार के विषय-विचारों को चैतन्य की रुग्णावस्था माना गया है क्योंकि इन अवस्थाओं में चैतन्य स्वरूपस्थ नहीं रहता। जब कभी भी चैतन्य अपने में नहीं रहता तब वह मन की वृत्तियों के साथ अपनी तादात्म्यता स्थापित कर लेता है तब उस समय के लिये देश काल परिच्छिन्न 'रूपों को धारण कर लेता है। इस व्यावहारिक जगत में वैयक्तिक चैतन्य प्रायः अन्य ऐसे वैयक्तिक चैतन्य के केन्द्रों के साथ संघर्ष कर बैठता है जो अपनी चित्तवृत्तियों के अनुसार विभिन्न प्रकार की देश काल परिस्थिति से परिच्छिन्न अवस्थाओं को प्राप्त कर चुके हैं। यह दृष्टिगत नानात्वपूर्ण जगत तथा

इसका अद्वैत अधिष्ठान, इनके बीच अज्ञान से उत्पन्न आत्म विरोध की चेतना ही सारे मानवी दुखों का मूल है।

सफल तथा सुखी जीवन तभी संभव है जब मनुष्य अपने व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों में समरसता लावे तथा अपने सम्पूर्ण व्क्तित्व को दूसरों के साथ जिनसे यह संसार बना है, अनुकूल बनाकर रखे। इस दृष्टि से जीवन एक कला है। कलाकार क्या करता है? वह पहले एक निश्चित उद्देश्य रखता है, तब वह साधन के रूप में आवश्यक सामग्रियों को बटोर लेता है तथा उनको व्यवस्थित रूप से रख देता है। वह आवश्यकीय वस्तुओं चुनता, अनावश्यक पदार्थ को हटा देता तथा आवश्यक को जोड़ता एवं अपनी कृति में अपने उद्देश्य के अनुसार पूर्णता को लाता है। कला की महान् कृतियां इसी तरह प्रकट हुई हैं चाहे वे गृह निर्माण कला हों या मूर्त्ति निर्माण; रंगीन चित्र बनाना हो या रेखा चित्र, संगीत या साहित्य। कला का सारांश यही है कि वस्तु को इस तरह से व्यवस्थित किया जाय कि उसमें मनोनुकूल समरसता, पूर्णता, सुन्दरता तथा सरसता प्राप्त हो। हमें अपने जीवन की रूपरेखा को भी इसी तरह से व्यवस्थित बनाना होगा कि हमारे स्वभाव की वाह्य शक्तियों तथा आंतरिक प्रवृत्तियों में समरसता हो जिससे कोई भी विषमताकारक तत्व न रह जाय जो विश्व के संतुलन के साक्षात्कार में—जैसा कि वह सन्तुलन वैयक्तिक जीवन में, सामाजिक जीवन में, जाति एवं राष्ट्र के जीवन में प्रतिबिम्बित होता है—बाधक बन सके। हम केवल अपने लिये ही नहीं हैं न तो केवल किसी राष्ट्र अथवा समाज के लिये ही हैं वरन् इस विश्व के नागरिक हैं तथा इस विश्व के प्रति हमारा महान् कर्त्तव्य है तथा

यह कर्त्तव्य यही है कि इस प्रकार अनुभव तथा कर्म करें कि इस सत्य की उपेक्षा तथा अवहेलना न हो कि जगत का सारतत्व अखण्ड पूर्णता है। समस्त सृष्टि के साथ आत्म व्यवस्थित बनने की कला ही योग है। यह कला मनुष्य की आन्तर चेतना के अनुकूल है तथा बाह्य चेतना के भी। योग कला है क्योंकि इसके अभ्यास के लिये हममें ऐसी असाधारण प्रतिभा तथा अन्तर्दृष्टि होनी चाहिये जिसको कि हम गणित अथवा तर्क के शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते। परन्तु इस दृष्टि से योग विज्ञान भी है कि इसके कुछ विशेष नियम हैं तथा इसके सिद्धांत राष्ट्र, जाति, देश-काल-समय से अवरुद्ध नहीं। विचारों तथा कर्मों के विभिन्न स्रोतों को इस प्रकार चुनना है कि विश्व की योजना में एक सुन्दर परिधान की रचना हो सके। यह शान्ति आंतरिक सुख का विज्ञान है तथा इसकी मांग है कि एक ही समय हमको अपने आंतरिक विभिन्न स्तरों के साथ ही नहीं वरन् बाह्य जीवन के विभिन्न स्तरों के साथ भी शांति एवं समरसता से पूर्ण रहना चाहिये। वही सुखी मनुष्य है, उसी ने सफल जीवन को प्राप्त किया है जो अपने शरीर, मन, बुद्धि तथा भावनाओं की आवश्यकताओं के साथ ही नहीं वरन् बाह्य जगत को बनाने वाले विभिन्न तत्वों के साथ भी मित्रवत् है। योग दर्शन अपने पारिभाषिक शब्दों द्वारा—जैसे यम, नियम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि द्वारा—शरीर, प्राण, इन्द्रियों की अनुभूति, मन के कार्य, बुद्धि को विश्वात्म दृष्टिकोण के साथ अनुशासित करने की आवश्यकता को व्यक्त करता है। जीवन आत्म साक्षात्कार का अनुभव है, यह जीव के लिये प्रशिक्षा क्षेत्र है जहां वह परम सत्य

के प्रति आत्मार्पण करने के लिये स्वयं में परिणति लाना सीखता है। कुछ ऋषियों ने सांसारिक जीवन की तुलना सराय से की है जहां पर यात्रीगण अस्थायी रूप से ठहरते हैं तथा इस प्रकार का ठहरना ही लक्ष्य नहीं वरन् यात्रा के लिये सहायक है। हमें जीवन के इन अनुभवों को ही चरम लक्ष्य नहीं मानना चाहिये परन्तु उनको आत्मोन्नति तथा उच्चतर पूर्ति के लिये आंतरिक चेतन की सम्पन्नता की प्रक्रिया के रूप में मानना चाहिये। हमारे हर्ष तथा शोक, हमारे दुख तथा सुख, हमारी मनः संकीर्णतायें तथा अपने आदर्शों को स्वतः में ही सत्य न समझना चाहिये। उन्हें ऐसी परिस्थितियों के रूप में जानना चाहिये जिनका हमें अतिक्रमण करना है गंभीर ज्ञान के द्वारा अतिक्रमण हो जाने पर वे हमारे लिये कुछ भी मूल्य न रखेंगी। हमारा वर्त्तमान जीवन घटनाओं का प्रवाह है तथा जो कुछ भी परिवर्त्तनशील है उसको सत्य नहीं कह सकते।

जीवन में उत्सर्ग तथा अर्पण

अब इस उपदेश का महत्व स्पष्ट हो जाता है कि हमें फलों की कामना न रखते हुये कर्मों को करना है, क्योंकि फल हमारे हाथ में नहीं हैं, वे जगत के उन चरम नियमों द्वारा निर्धारित हैं जिन्हें हम अपने मन की वर्त्तमान स्थिति में न तो समझ सकते हैं और न उनका अनुगमन ही कर सकते हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि ठीक रास्ते से कार्य करें, इसको दृष्टि में रखें कि हम एक अनिवार्य तथा आवश्यकीय

नियम पर ही आधारित है तथा जिसकी उपेक्षा करना मूर्खता के सिवा कुछ भी नहीं है। कार्य करने के पहले ही एक विशेष प्रकार की अपेक्षा रखना जन्म से पहले ही बच्चे का नामकरण करने के समान है। बात ऐसी है कि कोई भी मनुष्य किसी भी कर्म के परिणाम को समझ नहीं सकता। हम बिना समझे बूझे ही कुछ दृष्टिगत कारणों से होने वाले निश्चित परिणामों के बारे में बातें करते हैं। इससे यह परिलक्षित होता है कि हमारा दृष्टिकोण बहुत ही संकीर्ण है तथा इस बात को हम भूल जाते हैं कि इस अन्योन्याश्रित जगत में कुछ भी स्वतन्त्र नहीं है परन्तु अपनी सत्ता के लिये हर वस्तु को असीम शक्ति केन्द्रों की सहायता की आवश्यकता है। इस ठोस उदाहरण को लीजिये। मैं कहता हूँ कि यह पुस्तक टेबुल पर रखी हुई है तथा टेबुल ही इसका आधार है। क्या मैं ठीक कह रहा हूँ? सम्भवतः आप कहेंगे कि "आप ठीक कह रहे हैं" परन्तु आप ऐसा सोचने का कष्ट नहीं करते कि टेबुल स्वतः फर्श पर आधारित है तथा फर्श का आधार क्या है? सम्भतवतः काठ के टुकड़े एक दूसरे पर बिछाये गये हैं जिनके द्वारा फर्श टिका हुआ है, और ये काठ के टुकड़े दीवारों पर टिके हुये हैं तथा दीवाल का आधार नींव है तथा नींव का आधार यह पृथ्वी ही है। क्या पृथ्वी स्वयं पर अवलम्बित है? नहीं, पृथ्वी की स्थिति तथा गति दूसरे नक्षत्रों के कारण आकर्षण बल से अनुशासित है तथा यह भी हम न भूलें कि नक्षत्र सूर्य की महान् गुरुत्वाकर्षण शक्ति द्वारा अपनी स्थितियों को बनाये हुये हैं। यह सारा सौर मंडल भी विस्तृत नीहारिका पथ से महान् वेग से किसी अन्य लक्ष्य की ओर जा रहा है। हम

कहां हैं, यह पुस्तक टेबुल पर कहां आधारित है ! वस्तुओं का अस्तित्व वास्तव में आश्चर्यजनक है, तथा निश्चय ही सारा जीवन बहुमूल्य है। इन परिस्थितियों में हमको ऐसा कौन सा अधिकार प्राप्त है कि हम मन की इच्छा के अनुसार ही अपेक्षा रखें ? सम्पूर्ण विश्व की एकता के आधार पर नियमतः जो कुछ भी हमारे लिये दिया गया है उसी के विषय में आशा रखना न्याय संगत है।

उदाहरणतः भगवद्गीता में शिक्षा दी जाती है कि वस्तुओं के साथ आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। यह स्पष्ट है कि कोई भी बाह्य आसक्ति इस जगत की वस्तु स्थिति में सम्भव नहीं है। जब ईश्वर की इस भव्य सृष्टि में सारी बाह्य वस्तुयें मुझसे अविभाज्य जुड़ी हुई हैं तथा हम परस्पर एक दूसरे के साथ सन्निहित हैं तब हम किस वस्तु विशेष के प्रति आसक्त हो सकते हैं ? मनुष्य अपनी बुद्धि पर बड़ा अभिमान रखता है परन्तु वह किस बुद्धि बल पर ऐसा सोचता है कि विशेष विषयों की ओर विशेष भावनाओं को रखना उसके लिये सम्भव है ? तथा इस गलत धारणा को रखते हुये मुक्ति की आशा की जा सकती है ? हर कर्म के लिये समान रूप से प्रतिक्रिया भी होती है क्योंकि जगत के सन्तुलन में हर कर्म एक प्रकार की हलचल ला देता है तथा विचार कर्म के रूप में अशान्ति-कारक शक्ति का सामना करने के लिये प्रतिक्रिया होती है जिससे विश्व अपने सन्तुलन को पुनः प्राप्त कर लेता है। कितना आश्चर्यजनक यह जीवन है, कितना भव्य है यह तथा कितना अप्रतिहत !

अपने कर्मों के लिये सबों के परम कल्याण के प्रति आत्मत्याग तथा आत्मार्पण की भावना ही सम्यक् भाव

है। निम्नांकित श्लोकों में इस भावना को व्यक्त किया गया है:—

यच्च किंचिज्जगत्सर्व दृश्यते श्रूयतेऽपि वा
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥
जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णु पर्वतमस्तके
ज्वालमाला कुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥

इस विशाल जगत में जो कुछ भी देखने या सुनने में आता है उन सबमें अन्तर्बाह्य सर्वत्र परमात्मा नारायण व्याप्त है।

वह विष्णु जल में है तथा स्थल में, पर्वतों तथा ज्वालाओं में तथा सारा जगत विष्णुमय ही है।

वास्तविक अनुभूति को ईश्वर-दृष्टि कहते हैं जो हर वस्तु में सदा सर्वदा ईश्वर की सत्ता के दर्शन का अभ्यास है। गीता के उपदेशोंका सारांश यही है कि यह जगत ईश्वर का शरीर है, यही नहीं यह स्वयं ईश्वर ही है जो हमारे मन, इन्द्रिय, तथा बुद्धि के द्वारा हमको प्रतीत हो रहा है तथा ईश्वर से परे कुछ भी नहीं है। इस चेतना के साथ, इस गंभीर भावना के साथ कि "मैं ब्रह्म के हाथों का निमित्त हूँ", "मेरे कार्य मेरे नहीं वरन् ब्रह्म के ही हैं तथा ईश्वर से पृथक् होते ही कष्ट अनिवार्य है" कार्य करने पर निश्चय ही मनुष्य ऐश्वर्य, विजय, सुख तथा नीति को प्राप्त करता है। सुखमय तथा स्वस्थ जीवन दिव्य जीवन ही है।

आन्तरिक अनुशासन

यही महान् धारणा और यही लक्ष्य है परन्तु हमारे जीवन में कुछ लघुतर पहलुयें हैं, जिनकी यदि हम पूर्णता प्राप्ति के विभिन्न प्रयासों में सफल होना चाहते हैं, हम

उपेक्षा नहीं कर सकते। सर्व प्रथम हमको अपने आवेगों का सदुपयोग करना होगा तथा उनको इस प्रकार से सुव्यवस्थित बनाना होगा कि वे जीवन की समरस गति में वैषम्य न लावें। दूसरी बात यह है कि हमें सदा इसका प्रयत्न करना चाहिये कि हम अपने व्यक्तित्व का अधिकाधिक पूर्ण रूप से उपयोग करें, अज्ञान तथा भ्रांति की अवस्था में हम ऐसा नहीं करते। हमारी विचार प्रणाली में, नित्य वस्तु स्थिति के आधार पर पूर्ण परिवर्त्तन लाना चाहिये। इस विशाल सार्वभौमिक वातावरण से समरसता प्राप्त करने के लिये हमें यदा-कदा अपने में उन आवश्यक परिवर्त्तनों को संगठित करना होगा। अपने विषय में ठीक-ठीक विचारिये तथा अपने चतुर्दिक विशाल वातावरण में अपनी स्थिति को समझिये—वह वातावरण चाहे परिवार, जाति, देश अथवा जगत का कोई भी क्यों न हो। प्रबल संकल्प शक्ति के द्वारा अपनी दुर्बलताओं का सामना कीजिये तथा अपने वर्त्तमान वातावरण के अनुकूल व्यवस्थित बनने के लिये उनका सदुपयोग कीजिये। इसके लिये आपको बड़ा ही परिश्रमी, सच्चा तथा ईमानदार बनना होगा। सदा यह याद रखिये कि यह उतना महत्वपूर्ण नहीं कि आप क्या हैं परन्तु इससे भी महत्वपूर्ण है कि किस हद तक आप जानते हैं कि आप क्यों हैं, आप क्या हैं तथा ठीक मार्ग में अपने सुधार के लिये कितना प्रयत्न कर रहे हैं। हां, जल्दीबाजी न कीजिये। किसी भी कदम को उठाने से पहले अच्छी तरह से सोच लीजिये। एक स्पष्ट आदर्श को पहले से बनाये बिना कोई भी सत्प्रयत्न संभव नहीं। घुड़दौड़ का घोड़ा हल जोतने के लिये तथा हल का घोड़ा घुड़दौड़ के लिये प्रयुक्त करने पर कोई भी लाभ-

प्रद परिणाम न निकलेगा। अतः हमको अपनी शक्ति, अपना ज्ञान समझना होगा तथा उसी हद तक पैर बढ़ाना होगा, उससे परे नहीं।

यदि आपमें भावना की स्वतन्त्रता है तो आप स्वयं के साथ शांतिपूर्वक रह सकते हैं तथा आपको मनुष्यों की भीड़ की तथा अपने सम्बन्धियों की भी आवश्यकता नहीं रह जायगी। यह ठीक है कि यह प्रश्न का एक ही पहलू है क्योंकि अधिकांश सुव्यवस्थित व्यक्ति आरामपूर्वक तथा सरलता के साथ रहना चाहते हैं। विपत्ति के समय स्वयं का निरीक्षण कीजिये तथा जांचिये कि आप क्या हैं ! आशाभग्न किये जाने, विरोध किये जाने तथा धमकाये जाने पर, खतरे के समय आप अपनी दुर्बलता को जान सकते हैं। जांच की घड़ियों में आप अपनी गड़ी हुई कामनाओं तथा प्रवृत्तियों, अपनी तृष्णाओं तथा अपने भयों को भी जान सकते हैं। जिसे इस पर पूर्ण श्रद्धा है कि सदा एक महती शक्ति उसके पीछे है जो सर्वत्र ब्रह्माण्ड में कार्य कर रही है तो उसको जरा भी भय न होगा तथा उसके लिये आवेगों को अनुशासित करने तथा बल को विकसित करने में जरा भी कठिनाई न होगी। यह श्रद्धा गम्भीर धारणा, निश्चय, विवेक तथा परमात्मा के प्रति वास्तविक प्रेम के द्वारा उत्पन्न होनी चाहिये। यही आत्म विजय है जिसके द्वारा मनुष्य अपने जीवन में किसी भी समय अचिन्त्य शक्तियों का आह्वान कर सकता है।

आन्तरिक संघर्ष न रखिये। आधारभूत नैसर्गिक प्रवृत्तियों को पूर्ण न कर सकने के कारण ही बहुधा इस तरह के संघर्ष उठा करते हैं। मनुष्य को अपनी क्षमताओं तथा विशेष परिस्थिति में उनके उपयोग के विषय में अज्ञा-

नता है, यही उन संघर्षों का कारण है। आपको स्पष्टतः जानना चाहिये (१) क्या करना चाहिये ? (२) क्या करना संभव है ? (३) क्या पहले भी कभी किया जा चुका है (४) क्या कोई कार्य अभी बाकी रह गया है ? (५) बाधाओं को किस तरह बुद्धि संगत तरीकों से दूर किया जाय ? इसका अर्थ है कि आपको अपने मनोविज्ञान का अधिकार रखना चाहिये। सफल जीवन में भौतिक आध्यात्मिक, बौद्धिक तथा नैतिक योग्यता सन्निहित है, तथा इसके लिये मनुष्य में अन्तर्बाह्यतः पूर्णता आनी चाहिये। आप जो इस समय हैं इससे अधिक अपने विषय में जानिये। अपने अन्दर प्रसुप्त सुरक्षित शक्तियों को आदेश दीजिये तथा उनको जीवन की रूपरेखा के निर्माण के लिये रचनात्मक कर्म में लगाइये। क्योंकि यह जीवन निर्माण मात्र आपके लिये ही नहीं है वरन् सबके लिये है। जब अनेकता को एकता में संस्थित देखते हैं तथा एकता से निःसृत देखते हैं तब मनुष्य पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। ऐसा गीता कहती है परन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति कठिन है, हां यह सबों के लिये सम्भव है। इसके लिये पूर्ण नैतिक सम्पन्नता के आधार पर आंतरिक दृढ़ता की आवश्यकता है। सबों से प्रे करना तथा आत्म भाव के साथ सबों की सेवा करने की क्षमता रखना, सच्चा तथा सरल बनना, अपने समान ही दूसरों के लिये भी सहानुभूति रखना, जो अपने लिये प्रतिकूल हो वह दूसरों के लिये भी न करना, सदा समस्त जगत की भलाई का ध्यान रखना केवल किसी सीमित समूह का नहीं, जो न्यायतः अपनी वस्तु न हो उसको अन्याय पूर्वक हस्तगत करने की इच्छा न रखना, पूर्ण आत्मसंयमी बनना, मन, वचन

तथा कर्म में अनुशासित रहना, विश्वात्म दृष्टि से जगत को देखने में समर्थ बनना, सदा इस चेतना के साथ कार्य करना—ये ही वास्तव में सुसंस्कृत तथा सत्यान्वेषी के लिये आवश्यक गुण हैं। हम न तो बुद्धिमान ही हैं और न ठीक ही हैं। यदि हम शिक्षा प्रणाली के इस अभिप्राय को भूल जांय तथा उस प्रकार से कार्य करने लग जांय जो कि पूर्णता की दृष्टि से ठीक न हो। परन्तु सफलता हमारे पास ही है यदि हमारे पास सुसंचालित संकल्प हो। यह हमारी भलाई के लिये ही है। उपनिषदों के भव्य शब्दों में हम प्रार्थना करें:—

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतम् गमय

हमें असत्य से सत्य की ओर ले चल,
हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चल,
हमें मृत्यु से अमृतत्व की ओर ले चल।

——::•::——

नैतिक अनुशासन

(श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती)

सबों में एक ही चैतन्य है। सभी जीव एक आत्मा के प्रतिबिम्ब हैं। जिस प्रकार एक ही सूर्य जल से भरे हुये विभिन्न पात्रों में प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार एक ही परमात्मा सभी प्राणियों में प्रतिबिम्बित हो रहा है। एक अनेक नहीं हो सकता परन्तु एक ही अनेक जैसा दिखाई देता है। एक सत्य है। अनेक मिथ्या है। नानात्व भ्रामक है, पार्थक्य अनित्य है। एकता ही सत्य है, एकता ही सर्वस्व है। एक ही जीवन सब में स्पन्दित होता है। जानवरों, पक्षियों तथा मनुष्यों में एक ही जीवन प्रतिबिम्बित होता है। अस्तित्व एक ही है। यही उपनिषदों की घोषणा है तथा यही सत्य का आधार है। यदि दूसरे को कष्ट दे रहे हैं तो आप अपने आप को ही कष्ट दे रहे हैं, यदि आप दूसरों को सहायता करते हैं तो आप अपनी भी सहायता कर रहे हैं। अज्ञानवश ही मनुष्य दूसरे को हानि पहुंचाता है, वह सोचता है कि दूसरे लोग उससे अलग हैं इसी कारण वह दूसरों को कष्ट देता है। यही कारण है कि वह स्वार्थी, लोभी तथा घमण्डी बन जाता है। यदि आप इस तरह अनुभव करें कि एक आत्मा सबों में परिव्याप्त है तथा सारे प्राणी एक आत्मा के द्वारा सूत्रबद्ध हैं तो आप किस तरह दूसरों को कष्ट पहुंचा सकते हैं अथवा पीड़ित कर सकते हैं।

हममें से ऐसा कौन है जो कि वास्तव में सत्य अथवा दिव्य जीवन के विषय में जानने को उत्सुक है ? ऐसे प्रश्नों को पूछने के लिये हममें अधिक तत्परता है—"इम्पीरियल बैंक में आपने कितने रुपये जमा किये हैं ? मेरे विरुद्ध किसने क्या कहा ? क्या आप जानते हैं कि मैं कौन हूँ ? आपके स्त्री तथा बच्चे कैसे हैं ? आदि" आप ऐसे प्रश्न नहीं करते—"मैं कौन हूँ ? संसार क्या है ? बन्धन क्या है ? मुक्ति क्या है ? मैं कहां से आया ? मैं कहां जाऊंगा ? ईश्वर क्या है ? ईश्वर के विशेषण क्या हैं ? हमारा ईश्वर के साथ क्या सम्बन्ध है ? मोक्ष किस तरह प्राप्त किया जाय ? मोक्ष का स्वरूप क्या है ?"

स्वयं की ओर वातावरण तथा अपने कर्मों की ओर ध्यान देना ही सदाचार का श्रीगणेश है। कर्म करने के पहले हमको विचार कर लेना चाहिये कि वह ठीक है अथवा नहीं। अपने कर्त्तव्य को पहचान कर सचाई पूर्वक उसका पालन करने पर मनुष्य शीघ्र उन्नतिशील हो सकता है तथा परिणामस्वरूप उसको सफलता तथा सम्पत्ति की प्राप्ति होगी। उसके सुख अधिक संस्कृत होंगे। उसके आचार, व्यवहार तथा विषयोपभोग अधिक शुद्ध तथा भव्य होंगे। सुख छाया के समान है। यदि हम इसके पीछे दौड़ते हैं तो यह हमसे दूर हटता जायगा परन्तु यदि हम अपने कर्त्तव्य का सुचारु रूपेण पालन करते हैं तो सुख स्वतः ही उसका अनुगमन करेगा।

सुख की अधिकाधिक वृद्धि अथवा सूक्ष्मता ही सदाचार का परम लक्ष्य नहीं मान लेना चाहिये। क्योंकि बुद्धि की सूक्ष्मता के साथ साथ दुखों तथा क्लेशों की वृद्धि भी हो जाती है। प्रगति ही जीवन का उद्देश्य है। नये आदर्शों

का उत्तरोत्तर साक्षात्कार करना ही प्रगति है। अतः मनुष्य की सारी भावनाओं को उन्नत बनाना, मनुष्य के कर्मों को तथा महत्वाकांक्षाओं को समुन्नत बनाना ही सदाचार का लक्ष्य है।

मनुष्य को यह ज्ञान हो सकता है कि ठीक क्या है परन्तु इससे यह निश्चय नहीं हो जाता कि वह ठीक कर्म ही करेगा। ठीक वस्तु को जानते हुये भी मनुष्य गलत कर्मों को करता है। कामनायें बुद्धि की अवहेलना करती हैं। मनुष्य की इच्छाशक्ति सदा सरल पथ को ही चुनती है तथा बुद्धि की बात को न मानकर कामनाओं के फन्दे में आ जाती है। केवल बौद्धिक उपदेश मनुष्य को सदाचारी नहीं बना सकते। कुटिल इच्छा शक्ति में परिणति लाने की आवश्यकता है जिससे वह बुद्धि के साथ सहयोग पूर्वक कार्य करे तथा मनुष्य की विपुल-प्रवृत्ति को रोके।

शुद्ध बुद्धि मनुष्य को श्रेष्ठ वस्तु की ओर प्रवृत्त करती है। आसुरी स्वभाव उसके विरुद्ध संग्राम करता है। जिस व्यक्ति में नैतिक अनुशासन नहीं है उसकी प्रवृत्तियां उसकी बुद्धि के अनुकूल नहीं हो सकतीं। सलाह, डांट-फटकार, प्रोत्साहन भी मनुष्य को उसकी बुद्धि के अनुकूल नहीं बना पाते।

आत्मनिर्भरता सदाचार का आधार है। यही कारण है कि सारे धर्मों के महान् आचार्यों तथा गुरुओं ने बारंबार इस पर बल दिया है कि मनुष्य अपने अन्दर के ईश्वर को पहचाने तथा शास्त्रों, व्यक्तियों एव प्रथाओं पर ही अवलम्बित न होकर आत्मा पर ही अवलम्बित रहे। आत्म-निर्भरता ही सदाचार का आधार है।

जिस मनुष्य का जीवन आचार के सिद्धांतों एवं आदर्शों के द्वारा अनुशासित है उस व्यक्ति में आत्मसंयम सर्वाधिक पाया जाता है। नैतिक अनुशासन का चरम लक्ष्य आत्मसंयम ही है। मनुष्य को सारी प्रकृति को अनुशासित करना चाहिये। मानव प्रकृति के हर तत्व को प्रशिक्षण की आवश्यकता है। अनुशासन आत्मा के विरोधी तत्वों में समरसता स्थापित करता है। आत्म संयम के द्वारा साधक सत्य को जानने, शुभ की कामना करने तथा सत्य का साक्षात्कार करने में समर्थ बन जाता है।

उपदेशों तथा साधना के द्वारा किसी विशेष आदर्श के अनुसार अपनी क्षमताओं को प्रशिक्षित करना ही अनुशासन है। केवल बुद्धि को ही नहीं वरन् इच्छाशक्ति भावनाओं को भी अनुशासित कीजिये। अनुशासित व्यक्ति अपने कर्मों पर नियन्त्रण रखता है। वह अपने आवेगों का गुलाम नहीं रहता। ऐसा अधिकार एक दिन के प्रयास द्वारा नहीं हो सकता। सतत अभ्यास तथा दैनिक आत्म-संयम के द्वारा यह प्राप्य है। आवेगों का निषेध करने की शिक्षा प्राप्त कीजिये। आत्म संयमी व्यक्ति बुरे कार्य की ओर प्रवृत्त अपने आवेग को नियन्त्रित कर सकता है। परन्तु सांसारिक व्यक्ति विवश होकर उसी में अनुरक्त हो जाता है।

यम योग का आधार है। इसके बिना योग का प्रासाद निर्मित नहीं हो सकता। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (लोभ न करना)—ये पांच यम हैं। पतंजलि महर्षि ने इसका वर्णन किया है। हर धर्म में इनको मुख्य स्थान प्राप्त है।

सुख, दुख, धर्म तथा अधर्म की ओर क्रमश: मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा की दृष्टि रखने से मन शुद्ध बन जाता है। जो लोग सुख तथा सम्पत्ति का उपभोग कर रहे हैं उनके प्रति मैत्री की भावना करने से ईर्ष्या का मल चित्त को कलुषित नहीं बनाता। पीड़ितों की ओर करुणा की भावना रखने से दूसरों की हानि करने की कामना हमारे चित्त को कलंकित नहीं करती। धार्मिक तथा समुन्नत व्यक्तियों की ओर मुदिता की भावना रखने से ईर्ष्या चित्त को दूषित नहीं करती है। जो भी दुष्टों के प्रति उपेक्षा का भाव रखता है, पक्षपात न करते हुये मध्यम मार्ग का अनुगमन करता है, उसके मन से अवैर्य रूपी मल दूर हो जाता है।

रजस् तथा तमस् के विकारों के दूर हो जाने पर सत्व बिभासित हो उठता है। साधक में शुद्धता का समावेश हो जाता है। वह मनोनिरोध की ओर प्रवृत्त हो जाता है। जब मन शुद्ध हो जाता है तो उसमें शुद्धता तथा एकाग्रता स्वभावत: ही आ जाती है। यदि इन नैतिक गुणों का अर्जन न किया गया तो केवल साधना के द्वारा ही मन की एकाग्रता को प्राप्त नहीं किया जा सकता। यदि आप योग में पूर्णता को प्राप्त करना चाहते हैं तो इसके लिए सदाचार में सुप्रतिष्ठित होने पर समाधि अथवा निष्ठा स्वत: प्राप्त हो जायगी।

जिस व्यक्ति ने यम तथा नियम के सतत अभ्यास द्वारा नैतिक पूर्णता को प्राप्त किया है उसका व्यक्तित्व बड़ा ही आकर्षक होता है। वह लाखों को प्रभावित कर सकता है। चरित्र व्यक्ति को प्रबल व्यक्तित्व प्रदान करता है। चरित्रवान व्यक्ति का सर्वत्र आदर होता है। जो सच्चा, ईमान

तथा उदार है वह सर्वत्र आदर प्राप्त करता है तथा लोगों को प्रभावित करता है। सात्विक गुणों के द्वारा मनुष्य दिव्य बन जाता है। जो सत्य बोलता है तथा ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह प्रबल व्यक्तित्व को प्राप्त करता है। उसके एक शब्द में भी शक्ति होती है। लोग उसके द्वारा प्रभावित हो जाते हैं। व्यक्तित्व को विकसित करने के लिये चरित्र निर्माण अत्यन्त आवश्यक है। ब्रह्मचर्य के बिना आप प्रबल व्यक्तित्व नहीं प्राप्त कर सकते।

मनुष्य की मृत्यु हो सकती है परन्तु उसके चरित्र की नहीं। विचार रह जाते हैं। चरित्र ही मनुष्य को वास्तविक बल तथा शक्ति प्रदान करता है, चरित्र ही शक्ति है। लोग कहते हैं कि ज्ञान शक्ति है परन्तु मै बलपूर्वक कहता हूँ कि चरित्र ही शक्ति है। चरित्र के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिस व्यक्ति में चरित्र नहीं वह संसार में मृतक के समान ही है। समाज उस व्यक्ति की उपेक्षा तथा निंदा करता है। यदि आप जीवन में सफल होना चाहते हैं, यदि आप दूसरों को प्रभावित करना चाहते हैं, यदि आप आध्यात्मिक मार्ग में उन्नति करना चाहते हैं, यदि आप ईश्वर साक्षात्कार प्राप्त करना चाहते हैं तो आपको निष्कलंक चरित्र प्राप्त करना चाहिये। मृत्यु के पश्चात् भी चरित्र जीवित रहता है। आज भी हम श्री शंकर, बुद्ध, ईसामसीह तथा ऋषियों की याद बनाये हुये हैं क्योंकि उनका चरित्र बहुत महान् था। चरित्र आत्मा की महती शक्ति है। यह मधुर पुष्प है जिसकी सुगन्धि दूर प्रांतों तक फैलती है। शुभ गुणों तथा सुन्दर चरित्र द्वारा विभूषित मनुष्य प्रबल व्यक्तित्व वाला होता है। चरित्र ही व्यक्तित्व है। मनुष्य कुशल कलाकार अथवा वैज्ञानिक हो सकता

है परन्तु यदि वह चरित्रवान नहीं है तो समाज में उसको कोई स्थान नहीं प्राप्त हो सकता है ।

आपको सुशील, विनीत तथा शिष्ट होनी चाहिये। दूसरों के प्रति आदर तथा सम्मान का भाव रखना चाहिये शिष्ट व्यवहार तथा कोमल शब्दों के द्वारा असम्भव भी सम्भव हो जाता है। दूसरों को सम्मान देने वाला स्वयं भी सम्मानित होता है। नम्रता मनुष्य को सम्मान प्रदान करती है। नम्रता ही वह गुण है जो कि सबों के हृदय को जीत लेती है। नम्र मनुष्य बड़ा ही आकर्षक होता है।

प्राचीन काल में शिक्षा समाप्त होने पर ऋषिगण इसी प्रकार का उपदेश दिया करते थे। "सत्य बोलो, कर्त्तव्य करो, वेदों के अध्ययन में प्रमाद न करो, सत्य से पीछे न हटो, कर्त्तव्य से पीछे न हटो, अपने कल्याण की अवहेलना न करो, मातृ देवो भव—माता तुम्हारे लिये देवता हो, पितृ देवो भव—पिता तुम्हारे लिये देवता हो, आचार्य देवो भव—आचार्य तुम्हारे लिये देवता हो, अतिथि देवो भव—अतिथि तुम्हारे लिये देवता हो। ऐसे कर्म करो जो निष्कलंक हों। केवल शुभ कर्म ही करो, अशुभ कर्म नहीं। जो ब्राह्मण हों, गुरुजन हों, पाद तथा अर्घ्य के द्वारा उनको सम्मानित करो। श्रद्धापूर्वक दो। श्रद्धा रहित होकर न दो, आनन्दपूर्वक, लज्जा पूर्वक, भयपूर्वक, दयापूर्वक दान दो।"

एक बार एक साधक ने महर्षि वेदव्यास से यह प्रश्न किया। "हे महर्षि, हे विष्णु के अवतार, मैं भ्रम में पड़ा हुआ हूँ। मैं धर्म के वास्तविक तत्व को नहीं समझ पा रहा हूँ। कुछ लोग इसको सदाचार कहते हैं, तो कुछ लोग उसको धर्म कहते हैं जो मोक्ष तथा सुख की ओर ले जाय

कोई भी कर्म जिसके द्वारा मनुष्य का पतन होता है अधर्म बतलाया जाता है। भगवान कृष्ण कहते हैं कि ज्ञानीजन धर्म तथा अधर्म को समझने में असमर्थ रहते हैं। "गहना कर्मणोगति—कर्म की गति गहन है।" मैं मोह में पड़ा हुआ हूँ। हे महर्षि, धर्म की सहज परिभाषा मुझको बताओ जिससे कि मैं अपने सारे कर्मों में धर्म का अनुसरण कर सकूं।" महर्षि व्यास ने कहा—"हे साधक, मेरी बात सुनो। मैं तुमको सहज तरीका बताऊँगा। सावधानी के साथ मेरे उपदेश को सुनो तथा किसी भी कार्य को करते समय उसको याद रखो। वैसा ही करो जैसा कि तुम दूसरों से अपेक्षा रखते हो। यही धर्म का सारांश है। सावधानी के साथ इसको व्यवहार में लाओ। तुम सभी विपत्तियों में सुरक्षित रहोगे। यदि तुम इन कहावतों को याद रखोगे तो तुम किसी को भी कष्ट नहीं दे सकते। दैनिक जीवन में इसका अभ्यास करो तथा सैकड़ों बार विफल होने पर भी निराश न होओ। तुम्हारे अशुभ संस्कार तथा कामनायें ही तुम्हारे शत्रु हैं। वे मार्ग में बाधक बन कर आयेंगी परन्तु तुम वीरता के साथ बढ़ते जाओ। तुम लक्ष्य प्राप्ति में सफल बनोगे।" साधक ने इन उपदेशों का अक्षरशः पालन किया तथा अन्ततः साक्षात्कार को प्राप्त कर लिया।

धर्म सनातन है। खतरे के समय पर भी धर्म को न छोड़िये। भौतिक लाभ के लिये धर्म की अवहेलना न कीजिये। सदाचारमय जीवन तथा शुद्ध अन्तःकरण मनुष्य को जीवन-काल तथा मृत्यु के समय भी शान्ति प्रदान करते हैं। सदाचार से युक्त मनुष्य किसी भी धर्मी मानी की अपेक्षा ऊँचा है। ईश्वर सदाचारी व्यक्ति से

प्रसन्न रहता है। भगवान कृष्ण कहते हैं कि "अतिदुरा-चारी भी यदि एकाग्रचित से मेरी उपासना करे तो उसको सदाचारी ही मानना चाहिये क्योंकि उसने सुन्दर संकल्प किया है।" गला काटने वाले व्यक्ति के लिये भी काफी आशा है यदि वह प्रबल संकल्प के द्वारा आध्यात्मिक मार्ग का अवलम्बन कर ले।

प्रिय मित्रों, सदाचार के अनुसार ही जीवन का पालन कीजिये अपने दैनिक कर्त्तव्यों का सुचारु रूपेण पालन कीजिये। सन्देह होने पर शास्त्रों तथा महात्माओं की राय लीजिये। अपने चरित्र का निर्माण कीजिये। इससे जीवन में सफलता प्राप्त होगी। नित्यप्रति के अभ्यास द्वारा पुरानी तथा बुरी आदतों का दमन कीजिये। चरित्र के द्वारा आप जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। चरित्र ही आपकी जान है। उन्नत बनिये। विकसित बनिये। अग्रसर होइये। चरित्र आपको आत्मसुख तथा आत्म साक्षात्कार की ओर ले जाय।

अमृत पुत्रो! सारी दुर्बलताओं को त्याग डालो। उठो, बद्ध परिकर बनो। अपने वर्णाश्रम के अनुसार सदा-चार का सम्यक अभ्यास करो। आध्यात्मिक मार्ग में शीघ्र उन्नति करो। ईश्वर में ही नित्य सुख, असीम शांति, परम ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। सदाचार के द्वारा ही आप ईश्वर चैतन्य को प्राप्त कर सकते हैं। सीमित वस्तुओं में सुख नहीं, असीम में ही सुख है। सदाचार के अभ्यास के द्वारा इस सत्य को समझिये। जगत असत्य है। यह मृगतृष्णा के समान है। हर क्षण इन्द्रिय तथा मन आपको धोखे में डाल रहे हैं। जगिये, आंखें खोलिये, विवेक करना सीखिये। इन्द्रियों का विश्वास न कीजिये। वे

आपके शत्रु हैं। मानव जन्म को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। जीवन अल्प है। समय गतिमान है सदाचार के मार्ग का अनुगमन कीजिये। जो लोग जगत की असत्य वस्तुओं से आसक्त हैं वे अपनी आत्मा का ही हनन कर रहे हैं। सदाचार के अभ्यास के लिये प्रबल प्रयत्न कीजिये। सदाचार से अच्छी तरह चिपके रहिये। इसका साक्षात्कार कीजिये तथा इसी क्षण सच्चिदानन्द अवस्था को प्राप्त कीजिए।

परिशिष्ट

पूर्णता का पथ

इन्द्रियों द्वारा गृहीत प्रत्यक्ष सत्य की चेतना तथा उसके उपयोग द्वारा ही पूर्णता की प्राप्ति के प्रयत्न का समारम्भ होता है। साधारण मानवी चैतन्य के लिये जो सुनिश्चित सत्य जान पड़ता है वह यह शरीर ही है जो नानात्व जगत में स्थित है। वाह्य जगत के साथ सम्यक सम्बन्ध के आधार पर तथा उसके अनुकूल शरीर का पालन करना मनुष्य का सर्वप्रथम व्यावहारिक कर्त्तव्य है। पूर्णता की खोज करने वाले साधकों के लिये यह कर्त्तव्य है कि वे अपने शरीर को कभी भी असन्तुलित न बनावें। सत्य की खोज में अपनी शक्तियों को लगाने के लिये शरीर का स्वास्थ्य बहुत ही महत्वपूर्ण है। यदि आप अपने शरीर को मित्र अथवा सहायक के रूप में बनाये रखना चाहते हैं तो आपको वाह्य शुद्धता तथा आरोग्य के नियमों के पालन की अवहेलना नहीं करनी चाहिये। शौच सुन्दर स्वास्थ्य के लिये आधारभूत नियम है। इसके अन्दर किसी आहार को, किसी विशेष परिणाम में, किसी अनुकूल देश काल में ग्रहण करने की प्रणाली भी सन्निहित है। साधारणतः मानसिक स्वास्थ्य तथा शारीरिक स्वास्थ्य अन्योन्याश्रित हैं।

नैतिक नियम तथा सदाचार के अभ्यास द्वारा स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन की प्राप्ति के लिये पथ प्रशस्त हो जायगा। मनोविकार तथा मलिन आवेग मनुष्य के शरीर में असन्तुलन लाते हैं जिससे उसका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। मानसिक अशान्ति से तात्पर्य यह है कि शरीर में प्राण का असन्तुलित वितरण हो रहा है तथा स्नायुओं में हलचल है। इससे सारे शरीर में व्याधि हो जाती है। किस। निःस्वार्थ लक्ष्य के लिये महत्वाकांक्षा रखना जीवन के शुभ कार्यक्रम के लिये पूर्वापेक्ष्य है। अपने जीवन की प्रारम्भिक अवस्थाओं को ज्ञान की खोज, गुरु की सेवा, आत्मसंयम तथा तप में व्यतीत करना चाहिये। इस अवस्था में मनुष्य को सांसारिक कर्त्तव्य, अथवा व्यवहार से कोई भी सम्बन्ध न रखना चाहिये। क्योंकि इनसे मनुष्य अपने उन प्राथमिक कर्त्तव्यों से च्युत हो सकता है जिनकी आवश्यकता उसको इस समय है। नैतिक नियम जिसके अन्तर्गत सत्य, प्रेम तथा ब्रह्मचर्य सन्निहित हैं उसके मन, वचन, कर्म पर शासन करें। सन्तोष, मुदिता, तथा जीवन के आदर्श के प्रति संलग्नता मन तथा शरीर के स्वास्थ्य को बनाते हैं। मनुष्य के जीवन का आदर्श वही होना चाहिये जो कभी भी विनष्ट न होता हो तथा अन्य किसी वस्तु से भी जिसका विरोध अथवा निषेध न होता हो। इस आदर्श के विषय में जानने के लिये किसी सद्‌गुरु की सहायता आवश्यक है।

शिक्षा की प्रणाली से गुजरते समय जीवन के अन्य किसी भी घटक को बाधा या प्रतिबन्ध नहीं डालना चाहिये। शिक्षा की प्रणाली ऐसी होनी चाहिये कि इसमें मानवी स्वभाव के सारे पक्ष थथा सारे स्तर संतुलित रूप

से सन्निहित हों — वे स्तर हैं शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक। शारीरिक स्वास्थ्य, बौद्धिक समझ, नैतिक पूर्णता तथा आध्यात्मिक ज्ञान हमें पूर्णता की ओर ले जाते हैं। आज के विश्वविद्यालयों में जो विभिन्न बौद्धिक विज्ञानों की शिक्षा दी जाती है वे सम्पूर्ण शिक्षा के सामने नगण्य हैं। कोई भी शिक्षा जो मानवी जीवन के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं की अवहेलना करती है पूर्ण शिक्षा नहीं कही जा सकती। मानवी प्रकृति का सुव्यवस्थित तथा सन्तुलित अध्ययन ही शिक्षा है। सुशिक्षित हो जाने के पश्चात् मनुष्य को अपनी चेतना तथा बुद्धि को अनुभव के विश्लेषण तथा सत्य के ज्ञान की ओर प्रवृत्त करना चाहिये। बुद्धि, संकल्प तथा भावना—मनुष्य में ये तीन क्षमतायें हैं जो सत्य की प्राप्ति के मार्ग में साधक हैं। कुछ लोग पूर्णता के पथ पर एक विशेष अनुपात में इन क्षमताओं का उपयोग करते हैं। कुछ अन्य लोग एकांगी मार्ग का अनुसरण करते हैं जो दूसरे साधनों को भी स्वतः में परिणत कर डालता है अथवा उन्हें अपने अधीनस्थ तत्वों के रूप में बनाये रखता है।

भावना की विधि है श्रद्धा। कुछ लोगों के लिये पूर्णता प्राप्ति के मार्ग में, ईश्वर में श्रद्धा ही मापदण्ड है। ईश्वर के प्रति प्रेम तथा जगत के रूप में ईश्वर की अभिव्यक्ति के द्वारा ईश्वर की सेवा ही उनके लिये मुख्य मार्ग है। श्रद्धा शंका नहीं करती और न तो तर्क ही करती है परन्तु यह गुरु तथा ग्रन्थों के शब्दों को ही प्रमाण मानते हुए यह विश्वास करती है कि सर्वव्यापक ईश्वर ही इस जगत में एकमेव सत्य है। परमात्मा की विश्वात्म सत्ता को मानने का अर्थ यह है कि भक्त की ओर से उस

परमात्मा की ओर आदर तथा प्रेम की भावना रहनी चाहिये। यहां पर मानवी भावनायें विनष्ट नहीं होतीं परन्तु ये ईश्वरोन्मुखी बना ली जाती हैं तथा फलस्वरूप उनका ऊर्द्धवीकरण हो जाता है। पिता माता, पुत्र, पति, मित्र तथा प्रभु के रूप में ईश्वर से प्रेम किया जाता है। यह जगत ईश्वर का परिलक्षक बन जाता है तथा सांसारिक प्रेम ईश्वर प्रेम का निर्देशक। यह ईश्वर का ही शरीर है। अन्ततः किसी भी वस्तु का निषेध नहीं हो सकता। ईश्वर साक्षात्कार की ओर सीढ़ियों के रूप में हर वस्तु के साथ प्रेम करना चाहिये।

संकल्प शक्ति का मार्ग निश्चय तथा एकतानता का कठिन मार्ग है। यह संकल्प शक्ति या तो विवेक या श्रद्धा का संबल लेती है। श्रद्धा पर आधारित संकल्प शक्ति विवेक पर आधारित संकल्प शक्ति से भिन्न है तथा ये दो प्रकार के संकल्प पूर्णता के मार्ग में दो मार्ग हैं। श्रद्धा पर आधारित संकल्प उस परमात्मा पर एकाग्र होता है जिसे श्रद्धा का ही कार्य समझते हैं। ईश्वर सर्वत्र है तथा मनुष्य का मन ईश्वर की पूर्णता के विरोधी तत्वों को रखता है। अतः मन को रोकना चाहिये तथा उसकी वृत्तियों को पूर्णतः परमात्मा में परिणत करना चाहिये। विरोधी वृत्तियों को उनकी प्रतिपक्ष वृत्तियों से नष्ट करते हैं तथा उनकी जगह कुछ अन्य लाभकर वृत्तियों को प्रश्रय देते हैं अथवा मन की वृत्तियों को ईश्वर पर एकाग्र कर डालते हैं। फलस्वरूप असीम अनुभव की पारस मणि के छूते ही ये वृत्तियां परमात्मा में ही परिणत हो जाती हैं। प्रकृति एवं पुरुष (जड़ एवं चेतन) के विभेद पर तथा पुरुष की स्वतन्त्रता तथा पारमार्थिकता पर ध्यान करने

के द्वारा पुरुष को प्रकृति से पृथक् किया जाता है। संकल्प की शक्ति ही ऐसी है कि या तो यह सारे नाम रूपों को जो कि चैतन्य में बाह्यतः स्थित प्रतीत होते हैं, चैतन्य से बहिष्कृत कर देता है अथवा उन्हें असीम के चैतन्य में समाविष्ट कर लेता है। इस प्रकार संकल्प पूर्णता का पथ है।

ज्ञान का मार्ग अनुभव के बौद्धिक विश्लेषण की विधि है। यहां विवेक तथा संकल्प एक हो जाते हैं तथा विवेक शक्ति की गति को ही संकल्प कहने लग जाते हैं। अपनी असीमता का अनुभव यह सिद्ध करता है कि असीम का अस्तित्व है। असीम का स्वभाव व्यक्तित्व के स्वभाव के विरुद्ध है। ईश्वर को केवल ग्रन्थों के आधार पर ही नहीं मानते अथवा केवल गुरुओं के शब्द प्रमाण पर नहीं मानते परन्तु असीम चैतन्य के न मानने पर हमारे अनुभव तथा हमारे ज्ञान आत्म विरोधी तत्व बन जाते हैं तथा ससीम व्यक्ति के अन्तरतम् अनुभव से यही बुद्धिसंगत निष्कर्ष निकलता है कि असीम चैतन्य है। हर व्यक्ति के अन्तरतम् में असीम के लिये आकांक्षा सन्निहित है असीम की सत्ता की चेतना पूर्णता की प्राप्ति के मार्ग में निर्देशिका बन जाती है।

असीम के विचार पर ध्यान करना मार्ग है। जगत के विषय-पदार्थ चैतन्य के ही पहलू हैं। व्यक्ति का अस्तित्व सत्य के उसी स्तर पर है जिस पर अन्य व्यक्तियों का अस्तित्व है। विषय तथा विषयी एक दूसरे से पूरक के रूप में सम्बद्ध हैं तथा सत्य की दृष्टि से उनमें कोई एक दूसरे से न तो बड़ा है और न छोटा ही। सम्पूर्ण जगत को एक चेतन तत्व के रूप में निश्चय करना ही ध्यान का

सम्यक् रूप होना चाहिये। यहां जगत भौतिक नहीं रह पाता वरन् अपने चैतन्य स्वरूप को प्रकट कर देता है। ज्ञाता तथा ज्ञेय उस चैतन्य सत्य में निमग्न हो जाते हैं। जीव इस विश्व में होने वाली क्रमबद्ध प्रक्रिया का एक नमूना बन जाता है तथा ध्यान एवं चिंतन का एकमेव यही अभिप्राय होता है कि मानवी प्रक्रियाओं को विश्वात्म प्रक्रिया से एक रस कर दिया जाय।

यह प्राप्ति शरीर के किसी कार्य में सन्निहित नहीं वरन् यह मन की दृष्टि में सन्निहित है। विश्वात्म सत्य की अविभाज्यता के प्रति चेतना में गम्भीर निश्चय लाना ही यह मार्ग है। परम तत्व के सचेतन निश्चय को तब तक बनाये रखना चाहिये जब तक कि अपरोक्षज्ञान न हो जाय। अभ्यास अनवरत् होना चाहिये तथा आदर्श के प्रति विवेक एवं बुद्धि जन्य भक्ति से युक्त होना चाहिये। इस ज्ञान मार्ग में ब्रह्म पर दीर्घकालीन ध्यान के द्वारा पूर्णता की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त ध्यान की प्रक्रिया के द्वेष का अभाव, विश्वप्रेम का अर्जन, राग से मुक्ति, मन की शान्ति, आत्मसंयम, कामनाओं से उपरति, तितिक्षा, गंभीर सेवा भाव आदि आवश्यक उपलक्षण हैं—ये सभी सम्यक् ज्ञान तथा अन्तःनिरीक्षण पर आधारित हैं। लक्ष्य के स्वभाव के अनुसार ही मार्ग के स्वभाव का निरूपण किया जाता है। साध्य बहुत हद तक साधन के स्वभाव पर प्रभाव डालता है। साध्य साधन की ही उन्नतावस्था है; तथा साधन साध्य की ही सापेक्ष अभिव्यक्ति है। साध्य के लक्षण साधन में

प्रतिबिम्बित होते हैं तथा इस मापदण्ड के द्वारा मनुष्य साधन के औचित्य तथा उसकी सत्यता की जांच कर सकता है। साध्य साधन की परिसमाप्ति है तथा साधन साध्य का उपलक्षण है।

हर व्यक्ति में असीम प्रतिबिम्बित हो रहा है, अतः व्यक्ति का कोई भी कर्म असीम के अन्दर होने वाली विश्वात्म प्रक्रिया से पृथक् नहीं। विश्व की वैयक्तिक प्रक्रियाओं में हर क्षण पर असीम की सत्ता का आंशिक क्रमबद्ध अनुभव करना ही पूर्णता का पथ है।

॥ समाप्त ॥

—:o:—

योग वेदान्त

(हिन्दी मासिक पत्र)

संस्थापक—श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती
सम्पादक—श्री स्वामी ज्योतिर्मयानन्द सरस्वती
वार्षिक चंदा : ३ रु० ७५ नये पैसे; एक प्रति ३५ न० पै०
(वी० पी० द्वारा मंगाने से डाक व्यय अतिरिक्त)

यह पत्र शिवानन्द साहित्य का अनमोल रत्न है।

"योग वेदान्त आरण्य एकैडेमी" का मुख पत्र होने से इसमें सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक योग और वेदान्त विषयक सुबोधगम्य सामग्री रहती है।

योग के जटिल अर्थ को साधारण जन समाज में सरल रीतियों से समझाने के लिए यह उत्तम माध्यम है। अपने पवित्र विचारों को लेकर यह पत्र नवीन आध्यात्मिक युग का शंख प्रघोषित करता है।

इस पत्र में सर्व साधारण के लेखों को प्रकाशित नहीं किया जाता है। किन्तु अनुभव के आधार पर जो लेख लिखे गए हों और जिनके विचारों की पृष्ठभूमि ठोस और प्रामाणिक हो, ऐसे लेखों को ही इस पत्र में प्रकाशित किया जाता है। जीवनोपयोगी व्यावहारिक सिद्धान्त को प्रकट करने वाले लेख पत्र में अवश्य प्रकाशित किये जाते हैं।

यह पत्र किसी सम्प्रदाय विशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करता, किन्तु विश्वात्म-भावना के उद्देश्य को अंगीकार कर, केवल उसी सिद्धान्त का हर रीति से प्रतिपादन करता है।

व्यवस्थापक,

योग–वेदान्त (हिन्दी मासिक)

आनन्द कुटीर,

शिवानन्द नगर (ऋषिकेश)

प्रिय महोदय,

कृपया आप अपनी हिन्दी मासिक पत्रिका "योग–वेदान्त" के ग्राहकों की सूची में मेरा भी नाम अंकित कर लें। मैंने अपना इस वर्ष का चन्दा ३ रुपये ७५ नये पैसे आज.............जमा कर भेज दिया है। मेरा पता निम्नांकित है।

भवदीय

(ह०) ....

दिनांक....................१९६

नाम......................

पूरा पता..................

....

....

चंदा और पत्र व्यवहार इस पते से कीजिये...

योग-वेदान्त, शिवानन्द नगर (ऋषिकेश)